श्री अजितप्रभसूरिविरचितः श्री सम्यक्त्वमूल

।। श्रीद्वादशव्रतकथासङ्ग्रहः ।।

.. संपादक-संशोधकः

मुनिराजश्रीजयानंदविजयः

॥ श्री शङ्खेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ प्रभुश्रीमद्‌विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

श्री अजितप्रभसूरिविरचितः श्री सम्यक्त्वमूल

॥ श्रीद्वादशव्रतकथासङ्ग्रहः ॥

.. दिव्याशीष ..

श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी • मुनिराजश्रीरामचंद्र विजयजी

.. संपादक-संशोधकः ..

मुनिराजश्रीजयानंदविजयः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्रीरामचन्द्रप्रकाशनसमितिः, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में

वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा,

द्रव्य सहायक

आ. श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
के शिष्य एवं
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी
के कृपापात्र

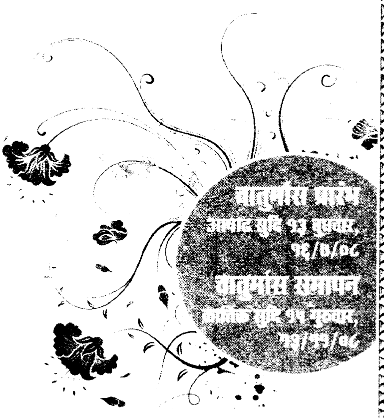

मुनिराज श्री
जयानंदविजयजी

मुनि श्री दिव्यानंदविजयजी
मुनि श्री वैराग्यानंदविजयजी
मुनि श्री तत्त्वानंदविजयजी
मुनि श्री रैवतचंद्रविजयजी
मुनि श्री अमृतविजयजी आदि ठाणा एवं

राष्ट्रसंत शिरोमणी आ. श्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी के
आज्ञा. शा. दी. प्र. वि. साध्वीश्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्याएँ

सा. श्री कुशलप्रभाश्रीजी
सा. श्री कीर्तिप्रभाश्रीजी - सा. श्री वसंतबालाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिप्रज्ञाश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरत्नाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिदर्शिताश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरिद्धिश्रीजी
सा. श्री मुक्तिसिद्धिश्रीजी - सा. श्री मुक्तिप्रियाश्रीजी

आदि ठाणा का शाश्वत तीर्थ शत्रुंजय क्षेत्रे पालीताना नगरे २०६५ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय की ज्ञान खाते की आय में से...

लेहर-कुंदन ग्रुप

मेंगलवा, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी कुंदनमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा...

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा थराद पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते।

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडामें चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान्
'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरूंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.-१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा. लि.- ५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) कुंदन ग्रुप, मेंगलवा, चेन्नई, दिल्ली, मुंबई.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हृितिक, आहोर। कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना नं.२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार - आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ६०० ०७९.

(४०) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज़, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(४१) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१ ००१.

(४२) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दांसपा, मुंबई.

सह संरक्षक

(१) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(३) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.)-फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरूनेलवेली-६२७ ००१.

(५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(६) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(७) शा. ताराचन्दजी भोनाजी, आहोर. महेता नरेशकुमार एन्ड कुां. 1st, भोइवाडा लेन, गुलालवाडी, मुंबई-२.

(८) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(९) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के. सी. आई. वार्यर्स प्रा. लि. १६३, गोविंदाप्पा, नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-६०००.०१.

(१०) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार - थराद.

(११) शा जेठमलजी सागरमलजी की स्मृति में मुलचंद, महावीरकुमार, आयुषी, मेहुल, रियान्सु, डोली, प्रागाणी ग्रुप-संखलेचा, मेंगलवा. राज रतन एसेंबली वर्क्स, १४६/११६९, मोतीलाल नगर नं.-१. सांई मंदिर के सामने, रोड नं.-३, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-१०४. संखलेचा मार्केटींग, ११-१३-१६, समाचारवारी स्ट्रीट, विजयवाडा-१.

अर्हम् ।
श्री चमत्कारी पार्श्वनाथाय नमः
प्रभु श्रीमद्‌विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः
श्री अजितप्रभसूरिविरचितः
श्री सम्यक्त्वमूल

॥ श्रीद्वादशव्रतकथासङ्ग्रहः ॥

तत्र

"श्री सम्यक्त्व विषये नरसिंह कथा"

(१)

धर्मादर्थस्तथा कामो, धर्मान्मोक्षोऽपि जायते ।
चतुर्वर्गे ततस्तस्य, मुख्यता परिकीर्तिता ॥१॥
अयमर्थोऽपरोऽनर्थ, इति निश्चयशालिना ।
भावनीया अस्थिमज्जा, धर्मेणैव विवेकिना ॥२॥
आसीदुज्जयिनीपुर्य्यां, जितशत्रुर्महीपतिः ।
तत्प्रिया धारिणी नाम्नी, नरसिंहश्च तत्सुतः ॥३॥
कलाकलापसम्पूर्णः, सोऽथ संप्राप्तयौवनः ।
रम्या द्वात्रिंशतं कन्यास्तातेन परिणायितः ॥४॥
शरत्कालेऽन्यदा तत्र, पुरेऽरण्यात् समाययौ ।
करी कश्चित् मदोन्मत्तः, शङ्खश्वेतो नगोन्नतः ॥५॥
कृतान्तमिव तं क्रुद्धं, जनविप्लवकारिणम् ।
करिणं कथयामास, पुमान् कोऽपि महीपतेः ॥६॥
तेनाऽथ प्रेषितं सैन्यं, दैन्यं भेजे पुरोऽस्य तत् ।
स्वयमेव महीपालश्चचाल सबलस्ततः ॥७॥

नरसिंहकुमारोऽथ, विनिवार्य्य महीपतिम् ।
दमनार्थमिभस्याऽस्य, प्राचलत्सेनया सह ॥८॥
दीर्घो नव करान् सप्तोन्नतश्च त्रींश्च विस्तृतः! ।
दीर्घदन्तकरस्तुच्छपुच्छो मधुपिशङ्गदृक् ॥९॥
चत्वारिंशत्समधिकैर्लक्षणानां चतुःशतैः ।
अलङ्कृतः करीन्द्रोऽयं, कुमारेण निरीक्षतः ॥१०॥ युग्मम्
अभियानापसरणप्रपातोत्पतनादिभिः ।
बहुधा खेदयित्वा तं, वशमानयति स्म सः ॥११॥
तस्मिन्नैरावणाकारेऽधिरूढं मेनिरे जनाः ।
कुमारमद्भुतश्रीकं, साक्षादिव शचीपतिम् ॥१२॥
तं गजेन्द्रमथालाने, नीत्वा कलयति स्म सः।
समुत्तीर्य्य ततस्तस्य, स्वयं नीराजनां व्यधात् ॥१३॥
जनकस्य समीपेऽथ, स ययौ विनयाञ्चितः ।
विदधे जनकोऽप्यस्य, परिरम्भादिगौरवम् ॥१४॥
दध्यौ च जगतीभारक्षमोऽयमभवत् सुतः ।
तदेनं भूपतिं कृत्वा, युज्यते मेऽनगारता ॥१५॥
ततस्तं मन्त्रिसामन्तपौरलोकस्य संमतम् ।
स्वपदे स्थापयामास, सुमुहूर्ते महीपतिः ॥१६॥
जयन्धरगुरोः पार्श्वे, सोऽथ दीक्षामुपाददे ।
न्यायेन पालयामास, नरसिंहनृपः क्षमाम् ॥१७॥
अन्येद्युर्दस्युनैकेनाऽतिप्रचण्डेन मायिना ।
अगृह्येणाऽलक्षितेन, मुष्यते स्म पुरी सका ॥१८॥
महाजनेन विज्ञप्ते, तस्मिन्नर्थे महीभुजा ।
आरक्षकः समादिष्टश्चौरनिग्रहहेतवे ॥१९॥

पुनर्विज्ञापयामासान्येद्युर्भूपं महाजनः।
मुषिता निखिला देव!, तस्करेण पुरी तव ॥२०॥
सुरूपा यौवनस्था च, या काचिदबलाऽभवत् ।
साऽपि रात्रौ तस्करेण, नीयते स्म बलादपि ॥२१॥
वासस्थानं ततोऽस्माकं, किञ्चिदन्यत् प्रदर्शय ।
निवसामो वयं तत्र, नृनाथ! निरुपद्रवाः ॥२२॥
ततश्चाऽऽरक्षक! राज्ञा, क्रुद्धेनैवं प्रजल्पितं ।
रे स्वं गृह्णन्! विना रक्षामधमर्णोऽसि किं मम? ॥२३॥
महाजनेन भणितं, दोषो नास्त्यस्य कश्चन ।
अमुना सबलेनाऽपि, चौरो धर्तुं न शक्यते ॥२४॥
तथा मया विधातव्यं, यथा भव्यं भविष्यति ।
इत्युदित्वा नरेन्द्रण, विसृष्टोऽथ महाजनः ॥२५॥
वण्ठवेषो नृपो रात्रौ, निर्गत्य निजमन्दिरात् ।
शङ्कास्थानेषु बभ्राम, कुर्वञ्चौरगवेषणम् ॥२६॥
रात्रौ भ्रान्तः पुरीमध्ये, बहिः पुर्या दिवा पुनः ।
तथाऽपि क्वापि नो दृष्टः, स दुष्टस्तस्करोऽमुना ॥२७॥
सायं मार्गरजःकीर्णस्तरुमूलस्थितो नृपः ।
कषायवस्त्रमायान्तं ददर्शैकं त्रिदण्डिनम् ॥२८॥
स्वसमीपे समायान्तं, ननाम स महीपतिः ।
कुतः स्थानादागतोऽसीत्याऽऽललाप सकोऽपि तम् ॥२९॥
राजा प्रोवाच द्रव्यार्थी, पथिको भगवन्नहम् ।
भ्रान्तोऽस्मि बहुदेशेषु, विभवं क्वापि नाऽऽप्नुवम् ॥३०॥
तदा त्रिदण्डिकस्तूचे, ये देशा वीक्षितास्त्वया ।
तेषां स्वरूपमाख्याहि, नामग्राहमहो मम् ॥३१॥

भूपतिः स्माऽऽह चतुरशीतिसङ्ख्या हि [1]नीवृतः ।
स्वरूपमपि केषाञ्चिच्छृणु त्वं कथयाम्यहम् ॥३२॥
यत्रैकवसना नार्यः, प्रायो लोकः प्रियंवदः ।
केशो नैवोच्यते बालो, लाटदेशः स वीक्षितः ॥३३॥
सुदीर्घचिहुरा[2] मञ्जरावाः कल्बलचीवराः ।
यत्र रामाः स सौराष्ट्रनामा राष्ट्रो मयेक्षितः ॥३४॥
नालिकेरीकदलीनां, फलं शालिश्च भोजने ।
नागवल्लीदलं यत्र, स दृष्टः कुङ्कुणो मया ॥३५॥
शुचिवेषाः प्रियाऽऽलापा, यत्र लोका विवेकिनः ।
वैदग्धीरुचिरो देशो, मया दृष्टः स गुर्जरः ॥३६॥
यत्रैकभक्तिकं वस्त्रमस्तं सर्वनृणां करे ।
भाषाऽतिपरुषा दृष्टः, स देशो मारुकाऽऽह्वयः ॥३७॥
यवे(त्रे)क्षवो व्रीहयश्च, जायते च कृषित्रयम् ।
सर्वसाधारणो लोको, मध्यदेशः स वीक्षितः ॥३८॥
गोधूमाः प्रचुरा यत्र, दुष्प्रापं लवणं तथा ।
सजलः सकलोऽप्येष, मालवोऽपि निरीक्षितः ॥३९॥
त्रिदण्डिवेषभृच्चौरः, स श्रुत्वैवं व्यचिन्तयत् ।
अयं हि पथिकोऽवश्यं, द्रव्यार्थी सदृशो मम ॥४०॥
बभाषि च मम त्वं चेद्, भणितं भोः! करिष्यसि ।
तन्मनोवाञ्छितं द्रव्यमचिरात् समवाप्स्यसि ॥४१॥
नृपः प्रोवाच यो द्रव्यं, ददाति हृदयेप्सितम् ।
न केवलमहं तस्य, सर्वोऽप्याऽऽज्ञाकरो जनः ॥४२॥
सोऽवदत् साम्प्रतं तर्हि, वर्तते भोः! तमस्विनी ।
पारदारिकदस्यूनां, दुष्टानां च प्रियङ्करी ॥४३॥

1. देशाः । 2. चिहुराः केशाः ।

तदुत्तिष्ठ कृपाणं त्वं, करे कुरु यथा पुरे ।
प्रविश्याऽऽनीयते द्रव्यं, कुतोऽपीश्वरमन्दिरात् ॥४४॥
राजाऽपि चिन्तयामास, नूनमेष स तस्करः ।
तदेनं हन्मि वा पश्याम्यथो यद्विदधात्यसौ ॥४५॥
ततः खड्गं चकर्षाऽसौ, दध्यौ संवीक्ष्य योग्यपि ।
ईदृशेनैव खड्गेन, नगरीशो विभाव्यते ॥४६॥
तन्मया मारणीयोऽयमुपायेन हि केनचित् ।
इति ध्यात्वाऽग्रतो गत्वा वलितोऽसौ झटित्यपि ॥४७॥
जागर्त्यद्यापि पूर्लोको, विश्रामं कुर्वहे ततः ।
क्षणमेकमिहाऽऽवां भोरित्यूचे च नृपं प्रति ॥४८॥
ततस्तदाऽऽज्ञया राजा, चक्रे पल्लवसंस्तरौ ।
तत्रैकत्र स विश्रान्तो, द्वितीये पार्थिवः स्वयम् ॥४९॥
मयि जाग्रति नैषोऽपि, शयिष्यते कथञ्चन ।
चिन्तयित्वेति सुष्वाप, संस्तरे सोऽथ तस्करः ॥५०॥
झटित्यथो समुत्थाय, स्वस्थानेऽस्थापयन्नृपः ।
महत्काष्ठं स्वयं चास्थात्, सासिर्वृक्षस्य कोटरे ॥५१॥
त्रिदण्डी खड्गमाकृष्य, तस्करोऽपि समुत्थितः ।
तत्काष्ठमसिघातेन, नृपभ्रान्त्या द्विधा व्यधात् ॥५२॥
अपसार्य पटिं स्पर्शादिना विज्ञाय दारु तत् ।
धूर्तेन वञ्चितोऽस्मीति, पश्चात्तापं चकार च ॥५३॥
राज्ञा सोऽभाणि रे दुष्ट!, मया त्वं मार्यसेऽधुना ।
विद्यते पौरुषं चेत् ते, ततो मेऽभिमुखो भव ॥५४॥
साधु साध्विति चौरोऽपि, बलात् निस्त्रिंशपाणिकः ।
संग्रामाय समं राज्ञाऽभ्यढौकिष्ट स दुष्टधीः ॥५५॥

खड्गाखड्गि चिरं कृत्वा, दोष्मता पृथिवीभुजा ।
मर्मप्रदेश आहत्य, पातितोऽसौ महीतले ॥५६॥
विधुरस्तेन घातेन, तस्करः स्माह भूपतिम् ।
सोऽहं दस्युरहो वीर!, येनेयं मुषिता पुरी ॥५७॥
अहं तावन् मरिष्यामि, शृणु त्वं मम भाषितम् ।
अस्ति देवकुलस्यास्यपृष्ठे पातालमन्दिरम् ॥५८॥
तत्राऽस्ति प्रचुरं द्रव्यं, धनदेवी च मे स्वसा ।
अन्याश्च नायिकाः सन्ति, नगर्या या मया हृताः ॥५९॥
अमुं मत्खड्गमादाय, गच्छ त्वं तत्र सत्वरम् ।
आकारयेः स्वसारं मे, शिलाया विवरेण ताम् ॥६०॥
कथयेश्च मृतिं मेऽस्याः, खड्गमेनं च दर्शयेः ।
ततोऽसौ त्वत्प्रवेशाय, द्वारमुद्घटयिष्यति ॥६१॥
तत् सर्वं भवता ग्राह्यमथवा यद् यस्य तस्य तत् ।
अर्पयेस्त्वमिति प्रोच्य, विपन्नः स मलिम्लुचः ॥६२॥
गत्वा तत्र नरेन्द्रोऽपि, कृत्वा च तदुदीरितम् ।
पातालभवने तत्र, प्रविष्टोऽथ ददर्श तत् ॥६३॥
विश्राम्यतु क्षणं तावत्, पर्यङ्केऽत्र भवानिति ।
भणित्वा भूपतिं द्वारं, पिदधे तस्करस्वसा ॥६४॥
दृष्ट्वाऽवलोकयन्तीं तां, छन्नं छन्नं स्वसंमुखम् ।
साशङ्कः स्थापयामासोपधानं तत्र भूपतिः ॥६५॥
स्वयं तस्थौ च दीपस्य, छायायां मतिमानथ ।
मुक्त्वा यन्त्रशिलां शय्यां, बभञ्ज धनदेव्यसौ ॥६६॥
ततः सा ददती ताला, जजल्पैवमहो मया ।
भव्यं कृतं यतो भ्रातृवधको विनिपातितः ॥६७॥

धृत्वा केशेषु तां राजा, प्रोचे रण्डे! भविष्यसि ।
त्वमेवं कुर्वती हन्त, भ्रातुर्मार्गानुयायिनी ॥६८॥
जल्पन्तीं दीनवाक्यानि, ततोऽसौ प्रविमुच्य ताम् ।
द्वारमुद्घाट्य च क्षिप्रं, निजं धाम समाययौ ॥६९॥
मेलयित्वा च पूर्लोकं, वस्तु यद् यस्य तस्य तत् ।
सर्वं समर्पयामास, भवनं तद्बभञ्ज च ॥७०॥
आनीताः स्वस्वगेहेषु ताः, स्त्रियस्तेन दस्युना ।
मोहिता न रतिं तत्र, लेभिरे चञ्चलाशयाः ॥७१॥
मुहुर्मुहुर्व्रजन्ति स्म, दस्युस्थाने ततो जनैः ।
कथितं पार्थिवस्यैतत्, तेनाऽपि भणितो भिषक् ॥७२॥
सोऽवदद्दस्युचूर्णेन, जाता एवं विधा इमाः ।
दत्त्वा स्वचूर्णं राजेन्द्र!, स्वभावस्थाः करोम्यहम् ॥७३॥
ततो राजाज्ञया तेन, ताः कृता गतकार्मणाः ।
एका तु तदवस्थैवाऽऽचख्ये तदपि भूभुजा ॥७४॥
पृष्टोऽथ भिषगाचख्यौ देव! चूर्णेन योगिनः ।
कासाञ्चित् वासिता कृत्तिः, कासाञ्चित् मांसशोणिते ॥७५॥
सर्वास्ताः प्रतिचूर्णेन, स्वभावस्थाः कृता मया ।
अस्यास्तु वासितास्तेनाऽस्थिमज्जा अपि भूपते! ॥७६॥
यद्यसौ घर्षयित्वाऽस्य, दस्योरस्थीनि पाय्यते ।
ततः संजायते राजन्!, स्वभावस्थाऽन्यथा न हि ॥७७॥
तत् तथा कारयित्वाऽऽशु, निर्विकारा कृताऽप्यसौ ।
नरसिंहनरेन्द्रेण, सदा परहितैषिणा ॥७८॥
स श्री जयन्धराचार्योऽन्यदा तत्र समाययौ ।
यस्य पार्श्वे पिता राज्ञो, जितशत्रुरभूद् व्रती ॥७९॥

धर्मं तदन्तिके श्रुत्वा, नरसिंहनृपोऽपि सः ।
प्रतिबुद्धः सुतं राज्येऽस्थापयद् गुणसागरम् ॥८०॥
ततो दीक्षामुपादाय, तपः कृत्वाऽतिदुष्करम् ।
निष्कर्मा नरसिंहर्षिरवाप शिवसम्पदम् ॥८१॥

भिषजः स्थाने तीर्थङ्करः ।

चूर्णस्य स्थाने मिथ्यात्वम् । योगि स्थाने विषयाः, स्त्रीणां स्थाने जीवाः ।

प्रतिचूर्णस्य फलं स्थाने सम्यक्त्वम् ।

अनादि संस्कारवशाद् मिथ्यात्वचूर्णेन मोहिता जीवा योगि-स्थान-विषयान् प्रत्यनुधावन्ति ।

भिषक्तीर्थङ्करस्य प्रतिचूर्णोपदेशेन केचित् कृतिगत चूर्णवद् लघुकर्मिणो जीवा अल्प प्रयत्नेन मिथ्यात्वं हित्वा प्रतिचूर्णस्यफलं सम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति ।

केचिद् मांसशोणितगत चूर्णवन्तोऽधिकप्रयत्नेन केचित् त्वस्थिमज्जागतचूर्णवन्तोऽत्यधिक प्रयत्नेन ।

तस्मात् तीर्थङ्करेण प्रदत्तमिदं सम्यक्त्वरूपं प्रतिचूर्णं महामूल्यवदस्ति येनात्मा स्वभावस्थो जायते ।

॥इति नरसिंहऋषिकथानकम् ॥

स्थूलप्राणातिपातविरमणव्रते यमपाशकथा ।

(२)

अणुव्रतानि पञ्च स्युर्गुणपूर्वं व्रतत्रयम् ।
शिक्षा* - पदानि चत्वारीत्युक्तो धर्मो ह्यगारिणाम्[1] ॥१॥
स्थूलप्राणातिपातस्य, विरतिव्रतमादिमम् ।
जायते सुखदं पाल्यमानं तद् यमपाशवत् ॥२॥

तथा हि–

इहैव भरते वाराणस्यां दुर्मर्षणो नृपः ।
बभूव कमलश्रीश्च, तत्प्रिया कमलाऽऽनना ॥३॥
सुमञ्जरीति विक्रान्तस्तत्राभूद् दण्डपाशिकः ।
यमपाशश्च चाण्डालो, जात्या नैव च कर्मणा ॥४॥
नलदामा वणिक् तत्र, दयादिगुणसंयुतः ।
सुमित्रा गेहिनी तस्य मम्मणश्च सुतोऽभवत् ॥५॥
अन्यदा [2]वणिजानीततुरङ्गे सोऽथ भूपतिः ।
आरूढोऽधिष्ठितश्चाश्वो नृपवैरिसुरेण सः ॥६॥
उत्पत्य गगनेनैव, वेगेनेयाय काननम् ।
राज्ञा मुक्तो विमुक्तश्च, प्राणैरप्याशु सोऽश्वकः ॥७॥
तत्रैको हरिणो भूपं, दृष्ट्वा जातिस्मरोऽभवत् ।
एवमज्ञापयत् तं च, लिखित्वाऽग्रेऽक्षराऽऽवलीम् ॥८॥
देवलो नाम ते राजन्नभूवं [3]श्रीकरीधरः ।
मृत्वाऽऽर्त्तध्यानदोषेण जातस्तिर्यक्त्वदूषितः ॥९॥

* '०व्रतानि' इति 'ख' पाठः । 1. गृहिणाम्-श्रावकाणाम् । 2. वणिगानीत । 3. श्रीकरी, भाषायां सूर्यमुखीति कथ्यते, या देवनृपेभ्यानां यात्रादिषूपयुज्यते ।

तेनाथ दर्शितं नीरं, तृषितस्य महीपतेः ।
स्वस्थीभूतेऽथ तस्मिंस्तु, तत्र तत्सैन्यमाययौ ॥१०॥
हरिणोऽसौ कृतज्ञेन, राज्ञा नीतो निजं पुरम् ।
राजदत्ताभयस्तत्र, स्वेच्छया सञ्चचार सः ॥११॥
अन्यदा मम्मणस्याट्टे, स समागात् परिभ्रमन् ।
पूर्वजन्ममत्सरेण, वणिक् तस्मै चुकोप सः ॥१२॥
तातमूचे च मार्योऽयमपराधकरो मृगः ।
सोऽवदद्धन्यते जीवो, नापरोऽपि वणिक्कुले ॥१३॥
अयं तु भूपतेरिष्टो, न हन्तव्यः सुत! त्वया ।
तथाऽपि निहतो रोषाद्, व्याक्षिप्तस्यास्य[1] सोऽमुना ॥१४॥
कुर्वन् कर्मेदृशं सोऽथ, मम्मणः श्रेष्ठिनेक्षितः ।
दूरस्थितेन यमदण्डेनेवाऽन्तविधायिना ॥१५॥ तिलकम् ।
ततो निवेदितस्तेन, तद्वृत्तान्तो महीपतेः ।
कोऽत्र साक्षीति राज्ञोक्ते, सोऽवदज्जनकोऽस्य हि ॥१६॥
नृपाऽऽहूतेन तेनापि, तत् सत्यमिति जल्पितम् ।
ततोऽसौ सत्यवादीति, पूजितः पृथिवीभुजा ॥१७॥
वधार्थं मम्मणस्याथ, समादिष्टो महीभुजा ।
यमपाशोऽब्रवीद् देव!, नहि हिंसां करोम्यहम् ॥१८॥
कथं त्वं प्राणिनो हिंसां, मातङ्गोऽपि करोषि न? ।
इति पृष्टोऽवनीशेन, स आख्याति स्म कारणम् ॥१९॥
हस्तिशीर्षे पुरवरे, दमदन्तो वणिक्सुतः ।
अनन्ततीर्थकृत्पार्श्वे, श्रुत्वा धर्ममभूद् व्रती ॥२०॥
तपः प्रकुर्वतस्तस्य, लब्धयोऽनेकशोऽभवन् ।

1. निषेधव्यग्रस्य मम्मणपितुः–नलदाम्नः ।

गीतार्थो विहरन्नेकः स नगर्य्यामिहाऽऽययौ ||२१||
तस्थौ पितृवनोपान्ते[1] कायोत्सर्गेण च स्थिरः ।
इतश्च तनयो मेऽस्ति प्रभो! नाम्नाऽतिमुक्तकः ||२२||
*औपसर्गिकरोगाऽऽर्त्तो! गतः पितृवनेऽथ सः ।
मुनिं ननाम नीरोगस्तस्य शक्त्या बभूव च ||२३||
मम तेन स्ववृत्तान्तो, गृहमेत्य निवेदितः ।
ततोऽहं सकुटुम्बोऽपि, तत्रागां रोगपीडितः ||२४||
मुक्तश्च व्याधिना तेन, ततोऽहं श्रावकोऽभवम् ।
यावज्जीवं च हिंसाया, विरतोऽस्मि धरापते! ||२५||
तेनैव साधुना देव!, प्रतिबोधकथा निजा ।
आख्याता मम पृष्टेन, ततोऽहमपि वेद्मि ताम् ||२६||
ततश्च पूजितो हृष्टचेतसा स महीभुजा ।
चाण्डालानां समस्तानामधिपश्च विनिर्मितः ||२७||
अन्येन [2]श्वपचेनायं, मम्मणो विनिपातितः ।
यमपाशश्च मृत्वाऽन्ते, बभूव त्रिदशोत्तमः ||२८||

शरीरी म्रियतां मा वा ध्रुवं हिंसा प्रमादिनः ।
सा प्राणव्यपरोपेऽपि, प्रमादरहितस्य न ||

1. श्मशानपार्श्वे । *'उपसर्गिक०' इति 'क-ख' पाठः । 2. चाण्डालेन ।

स्थूलमृषावादविरमणव्रते भद्रश्रेष्ठिकथा ।

(३)

द्वितीयं च व्रतं नाम, कन्याऽलीकादि पञ्चधा ।
[1]अलीकभाषणे दोषो, भद्रस्येव प्रजायते ॥१॥
क्षितिप्रतिष्ठितपुरे, वणिजौ धनवर्जितौ ।
दुष्टबुद्धिसुबुद्ध्याख्यावभूतां *विदितौ जने ॥२॥
प्रपन्नसौहृदावेतौ किञ्चिदादाय [2]पण्यकम् ।
देशान्तरप्रचलितावर्थोपार्जनहेतवे ॥३॥
प्राप्तौ च क्रमयोगेन, पुरे क्वापि पुरातने ।
दिनानि कतिचित् तत्र, तस्थतुर्लाभकाङ्क्षिणौ ॥४॥
देहचिन्ताकृते क्वापि, खण्डौकसि सुबुद्धिना ।
उपविष्टेन सम्प्राप्तं, निधानं किञ्चिदन्यदा ॥५॥
तद् दुष्टबुद्धिना सार्धं, गृहीत्वाऽसौ न्यभालयत् ।
यावत् तावच्च दीनारसहस्रं समजायत ॥६॥
कृतकृत्यौ ततश्चैतावागतौ नगरं निजम् ।
तत्रेदं मन्त्रयामास, दुष्टः सह सुबुद्धिना ॥७॥
अर्धमर्धं विभज्येदं, गृह्णीवश्चेद् धनं सखे! ।
तदा सम्भावना[3] गुर्वी, भविष्यत्यावयोर्जने ॥८॥
ततो निधानलाभं नौ, ज्ञात्वा भूपः कथञ्चन ।
तद् ग्रहीष्यति, दारिद्र्यं, तदवस्थं तदाऽऽवयोः ॥९॥
गृहीत्वा शतमेकैकं, शेषद्रव्यमिहैव हि ।
निक्षिप्यते वटोपान्ते, सम्मतं तव चेद् भवेत् ॥१०॥

1. असत्यवचने । *'जिनशासने' इति 'क' पाठः । 2. विक्रेयवस्तु । 3. सम्मान

एवमस्त्विति तेनोक्ते, रात्रौ निक्षिप्य तत्र तत् ।
प्रभाते तौ निजं गेहमेयतु[1]र्मुदिताऽऽशयौ ॥११॥
तद् दीनारशतमथो, दुष्टबुद्धेरसद्व्ययात् ।
निष्ठितं[2] दिवसैः कैश्चित्, पुण्येनैव स्थिरेन्दिरा[3] ॥१२॥
पुनः सुबुद्धिदुर्बुद्धी, गत्वा निशि ततो धनात् ।
दीनारशतमेकैकं, गृहीत्वा गृहमागतौ ॥१३॥
अन्यदा चिन्तयामास, दुष्टबुद्धिर्मनस्यदः ।
सुबुद्धिं वञ्चयित्वैनं, शेषं [4]स्वं स्वीकरोम्यहम् ॥१४॥
विचिन्त्यैवं स यामिन्यां, गत्वा तत्र तदाददे ।
वञ्च्यते जनकोऽप्यर्थलुब्धैरन्यस्य का कथा? ॥१५॥
मित्रमूचे च तद् द्रव्यं, विभज्याऽऽनीयते गृहम् ।
बहिःस्थिते च नो तस्मिन्, चिन्ता नौ याति चित्ततः ॥१६॥
तद्वाक्यमनुमेनेऽथ, सुबुद्धिः सरलाऽऽशयः ।
गत्वा चखान तत् स्थानं, सह तेन च दुष्टधीः ॥१७॥
तत्राऽपश्यन् धनं तच्च, स कूटकपटाऽऽलयः ।
हा! वञ्चितोऽस्मि केनापीत्याजघान शिरोऽश्मना ॥१८॥
जगाद च त्वया तद्धि, सुबुद्धेऽपहृतं खलु ।
जानाति नाऽपरः स्थानमिदमावाभ्यां[5] विना यतः ॥१९॥
सोऽब्रवीद् हर्तुकामः, स्वमभविष्यमहं यदि ।
एकान्तलब्धं तत् ते नाकथयिष्यं पुराऽप्यदः ॥२०॥
त्वं तु स्ववञ्चकत्वेन, मामप्येवं विमन्यसे ।
पित्तातिप्लावितो नीरमपि [6]ज्वलितमीक्षते ॥२१॥
एवं तौ कलहायन्तौ, समीपे नृपतेर्गतौ ।

1. आजग्मतुः । 2. क्षीणम् । 3. श्रीः । 4. धनम् । 5. अत्र छन्दोभङ्गः, 'आवां विना' इति पाठश्चेत् न दोषः । 6. अग्निम् ।

इति विज्ञपयामास, तमादौ सोऽथ दुर्मतिः ॥२२॥
देवाऽऽवाभ्यां निधिः क्वापि, लब्धस्ते नो निवेदितः ।
लुब्धाभ्याममुकस्थाने, निक्षिप्तश्च भिया तव ॥२३॥
अनेन वञ्चयित्वा मां, जगृहे स सुबुद्धिना ।
इति ज्ञात्वा यथायुक्तं, विधेहि त्वं महीपते! ॥२४॥
राजोचे वर्ततेऽत्रार्थे, साक्षिको ननु कस्तव? ।
विचिन्त्य सोऽवदद् दुष्टबुद्धिः पुनरिदं वचः ॥२५॥
यस्याधस्ताद् विनिक्षिप्तं, तद् द्रव्यमवनीपते! ।
स एव हि महावृक्षः, साक्षिकोऽस्त्यत्र निश्चितम् ॥२६॥
इदं वित्तमनेनाऽऽत्तमिति वाक्यमसौ यदि ।
तरुर्वक्ति ततो राजन्!, ज्ञेयः [1]सूनृतवागहम् ॥२७॥
राजा प्रोवाच यद्येवं, करिष्यसि कथञ्चन ।
सत्यवाक्यो भवानेको,* भविष्यति ततो जने ॥२८॥
इदं हि ह्यो (श्वो ?) मया कार्यमित्युक्ते दुष्टबुद्धिना ।
विसृष्टौ तौ नरेन्द्रेण, 卐दत्तप्रतिभुवौ गृहम् ॥२९॥
अहो! सुदुर्घटं कार्यं, कथमेष करिष्यति? ।
धर्मस्यैव जयो वेति, ध्यायन् वेश्म ययौ सुधीः ॥३०॥
इतरोऽपि गृहं प्राप्तो, भद्राऽऽख्यं पितरं निजम् ।
प्रोवाच तात! दीनारा, मम हस्तगता इमे ॥३१॥
क्षेप्स्यामि त्वामहं नीत्वा, निशायां वटकोटरे ।
आत्तं सुबुद्धिना [2]रिक्थमिति वाच्यं त्वया [3]प्रगे ॥३२॥
[4]सोऽथाभाषिष्ट रे दुष्टमते! नैतद्धि सुन्दरम् ।
उपरोधेन ते पुत्र!, कार्यमेतद् मया परम्[5] ॥३३॥

1. सत्यवादी । *'भवानेव' इति 'क-ख' पाठः । 卐दत्तः प्रतिभूः साक्षी याभ्यां तौ ।
2. धनम् । 3. प्रातः । 4. दुष्टबुद्धेः पिता भद्रश्रेष्ठी । 5. किन्तु

चक्रे *च स तथा तेन, द्वितीयेऽह्नि महीपतेः ।
पुरः पौरजनस्यापि, तमर्चित्वा महीरुहम् ॥३४॥
दुष्टबुद्धिरदोऽवादीद्, गृहीतं केन तद् धनम्? ।
सत्यमाख्याहि वृक्षेश!, विवादस्त्वयि तिष्ठते॥३५॥ युग्मम्।
वटकोटरसंस्थोऽथ, भद्रश्रेष्ठी शशंस सः ।
हंहो! सुबुद्धिनोपात्तं, तद् द्रव्यमिति बुध्यताम् ॥३६॥
तच्छ्रुत्वा विस्मिताः सर्वे, सुबुद्धिं चावदद् नृपः ।
अपराध्यसि भोस्तावद्, निधानं मे समर्पय ॥३७॥
सोऽथ दध्यौ न तरवो, जल्पन्तीह कदाचन ।
इयं हि कूटरचना, दुष्टबुद्धेर्विभाव्यते ॥३८॥
वटस्य कोटराद् वाणी, यदसौ निर्गता ततः ।
मन्ये संकेतितोऽनेन, प्रक्षिप्तोऽस्त्यत्र कश्चन ॥३९॥
जगाद च तवावश्यमर्पणीयं मया धनम् ।
महाराज! परं किञ्चिद्, विज्ञप्यमिह विद्यते ॥४०॥
ततो विज्ञपयेत्युक्तो, राज्ञाऽवोचदसौ पुनः ।
जगृहे तद् मया द्रव्यं, न नीतं हि गृहे परम् ॥४१॥
तरुकोटरमध्येऽत्र, प्रक्षिप्याहं गतो गृहम् ।
अन्यस्मिन् दिवसे यावत्, तदादातुमुपाऽऽगतः ॥४२॥
तावत् तत्राऽहिमद्राक्षं, फटाऽऽटोपभयङ्करम् ।
देवताऽधिष्ठितमिदमिति चाऽचिन्तयं तदा ॥४३॥ युग्मम् ।
तत् तं द्विरसनं[1] द्रव्यगोप्तारं देव! हन्म्यहम् ।
उपायेनेह केनापि, यद्यनुज्ञा भवेत् तव ॥४४॥
एवं कुर्विति राज्ञोक्ते, स सद्यस्तरुकोटरम् ।
[2]तर्पणैः पूरयामास, बहिश्च परितोऽस्य हि ॥४५॥

*'०ऽथ' इति 'क-ख' पाठः । १. द्वे रसने जिह्वे यस्य तं द्विरसनं सर्पम् । २. काष्ठैः ।

ततो ज्वलयितुं वह्नावारब्धे छगणोद्भवः[1] ।
बभूव प्रचुरो धूमस्तेन [2]प्लुष्टेक्षणः क्षणात् ॥४६॥
दुष्टबुद्धेः पिता सोऽथ, पपात पृथिवीतले ।
भद्रश्रेष्ठीति भूपेन, लोकैश्चाप्युपलक्षितः ॥४७॥ युग्मम्।
किमेतद्? इति पृष्टश्च, सर्वैरपि सकौतुकैः ।
सोऽवदत् कूटसाक्षित्वमहं दुष्टेन कारितः ॥४८॥
अलीकवाक्यजं पापमिहैव फलितं मम ।
इति ज्ञात्वा न वक्तव्यमहो! केनाप्यसूनृतम् ॥४९॥
ततोऽसौ संस्थितो भद्रो, भद्रधीः, सोऽथ तत्सुतः ।
राज्ञा सर्वस्वमादाय, पुराद् निर्वासितो निजात् ॥५०॥
सुबुद्धिस्त्वर्चितस्तेन, वस्त्राऽलङ्करणादिभिः ।
सत्यत्वात् सर्वलोकस्य, प्रशंसा समवाऽऽप सः ॥५१॥

मूका जडाश्च विकला, वाग् हीना वाग् जुगुप्सिता ।
पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥
असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥
सत्यमेव वदेत्प्राज्ञः, सर्वभूतोपकारकम् ।
यद्वा तिष्ठेत् समालम्ब्य, मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥
पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया ।
असत्यवादिनः पुंसः, प्रतिकारो न विद्यते ॥

1. सुखे कंडों की आग से उत्पन्न । 2. ज्वलितनेत्रः

अदत्तादानविरमणव्रते जिनदत्तकथा ।

(४)

स्थूलादत्तपरित्यागसंज्ञमेतदणुव्रतम् ।
पालनीयं प्रयत्नेन, गुणकृत् जिनदत्तवत् ॥१॥
वसन्तपुरमित्यस्ति, पुरं पुरगुणाश्रितम् ।
यथार्थनामा तत्राभूद्, जितशत्रुर्धरापतिः ॥२॥
तनयो जिनदासस्य, जिनदत्तोऽभिधानतः ।
बभूव श्रावकस्तत्र, जीवाजीवादितत्त्ववित् ॥३॥
सम्प्राप्तयौवनः सोऽथ, दीक्षाऽऽदानकृताऽऽशयः ।
विवाहं कुलकन्याया, नेच्छति स्मार्थितोऽपि सन् ॥४॥
मित्रमण्डलसंयुक्तो, ययौ चोपवनेऽन्यदा ।
उत्तुङ्गशिखरं तत्राद्राक्षीच्च जिनमन्दिरम् ॥५॥
ततोऽसौ विधिना तत्र, प्रविश्य कुसुमादिभिः ।
समभ्यर्च्य जिनाधीशं, विदधे चैत्यवन्दनाम् ॥६॥
आगत्य कन्यकैकाऽथोत्तरीयपिहिताऽऽनना ।
शुभ्रद्रव्यैर्जिनार्चायाश्चकार मुखमण्डनम् ॥७॥
कपोले जिनबिम्बस्य, पत्रवल्लीं वितन्वतीम् ।
तां वीक्ष्य विस्मितोऽवोचज्जिनदत्तः सखीनिति ॥८॥
कस्येयं तनया हंहो!?, तेऽवोचन् विदिता न किम्? ।
तवेयं प्रियमित्रस्य, सार्थवाहस्य नन्दिनी ॥९॥
एषा जिनमतीनाम्नी, यथा नारीशिरोमणिः ।
तथा त्वमपि रूपाऽऽद्यैर्गुणैर्नरशिरोमणिः ॥१०॥
करोति गृहवासेन, संयोगं युवयोर्यदि ।
वेधास्तत् तस्य निर्माणप्रयासः सफलो भवेत् ॥११॥

जिनदत्तोऽभ्यधाद् युक्तं, न युष्माभिर्विधीयते ।
वयस्याः! यत् कृतं हास्यमिह स्थाने मया सह ॥१२॥
पराभिप्रायविज्ञानदक्षा अप्यनुगामिनः ।
किं न जानीत मां यूयं, दीक्षाऽऽदानकृताऽऽशयम्? ॥१३॥
मुखमण्डनविज्ञानकौतुकेन मयाऽपि भोः! ।
पृष्टमेतदन्यथा तु, स्त्रीकथाऽत्र न युज्यते ॥१४॥
इत्युदित्वा स्थितः सोऽथ, जिनमत्या निरीक्षितः ।
अनुरागश्च संजातस्तस्यास्तस्मिन् शुभाऽऽकृतौ ॥१५॥
ज्ञातः सखीजनेनास्या, अभिप्रायो मनोगतः ।
सम्प्राप्तेन गृहं सोऽथ, पित्रोरग्रे निवेदितः ॥१६॥
जिनदत्तोऽपि सदनं, गत्वा कृत्वा च भोजनम् ।
हट्टे गत्वा व्यवहृतिं, चक्रेऽर्थार्जनहेतवे ॥१७॥
जिनमत्याः पिता गत्वा, जिनदासस्य सन्निधौ ।
कन्याप्रदानं विदधेऽनुमेने सोऽपि तन्मुदा ॥१८॥
गृहप्राप्तस्य वृत्तान्तः, पित्रा सूनोर्निवेदितः ।
असौ दीक्षाऽभिलाषित्वादुद्वाहं नेच्छति स्म च ॥१९॥
जिनमन्दिरयानादिस्ववृत्तान्तं निवेद्य सः ।
पित्रा पुनर्विवाहार्थे, भणितो मौनमाश्रितः ॥२०॥
अन्यदा कन्यका साऽथ, निर्गच्छन्ती गृहाद् निजात् ।
दृष्टा पुराऽऽरक्षकेण, वसुदत्तेन भोगिना ॥२१॥
ततो जाताऽनुरागेण, तेन गत्वाऽथ तत्पितुः ।
पार्श्वे सा याचिता, दत्ता, जिनस्येति च [1]सोऽब्रवीत् ॥२२॥
ततो रुष्टः स दुष्टाऽऽत्मा, मारणाऽऽत्मिकया धिया ।
सञ्जातो जिनदत्तस्य, च्छिद्रान्वेषी दिवानिशम् ॥२३॥

1. जिनमतीपिता ।

अश्ववाहिकया राज्ञो, गतस्योद्यानमन्यदा ।
पपात कुण्डलं कर्णाच्चलत्यश्वेऽतिरंहसा[1] ॥२४॥
तच्चाऽऽगतेन विज्ञातं, तेन राजकुले ततः ।
वसुदत्तः समादिष्टस्तदन्वेषणहेतवे ॥२५॥
तदर्थं सोऽचलद् यावत्, तावत् तस्य पुरःसरः ।
जिनदत्तो बहिर्गन्तुं, प्रवृत्तोऽर्थेन केनचित् ॥२६॥
दृष्ट्वा तत् कुण्डलं मार्गे, सोऽथ दूरमपासरत् ।
[2]लोष्टुवत् परद्रव्याणि, यतः पश्यन्ति साधवः ॥२७॥
वसुदत्तोऽपि तत्राऽऽगात्, किमेतदिति चिन्तयन् ।
दृष्ट्वाऽऽदाय च तच्छीघ्रमार्पयच्चावनीपतेः ॥२८॥
राजा प्रोवाच भो भद्र!, कुतो लब्धमिदं त्वया? ।
जिनदत्तान्मया प्राप्तमित्यूचे स च दुष्टधीः ॥२९॥
जिनदत्तोऽपि किं नाम, परद्रव्यं हरत्यहो!? ।
इति पृष्टे नरेन्द्रेण, वसुदत्तोऽभ्यधात् पुनः ॥३०॥
समानो जिनदत्तेन, तस्करः कोऽपि नापरः ।
यः सदा पश्यतोऽप्यर्थं, परस्माद् हरति प्रभो! ॥३१॥
वध्य आज्ञापितो राज्ञा, ततोऽयं क्रुद्धचेतसा ।
वसुदत्तोऽपि बद्ध्वा तं, रासभाऽऽरोपितं व्यधात् ॥३२॥
रक्तचन्दनलिप्ताङ्गो, रसद्विरसडिण्डिमः ।
नीयमानः पुरीमध्ये, कृतहाहारवो जनैः ॥३३॥
गृहान्निर्गतया सोऽथ, जिनमत्याऽवलोकितः ।
सा चैवं चिन्तयामास, रुदती निभृतस्वरम् ॥३४॥ युग्मम्।
धर्मार्थी सदयो देवगुरुभक्तिपरायणः ।
निरागो जिनदत्तो ही!, प्राप्तवान् कीदृशीं दशाम्? ॥३५॥

1. अतिवेगेन । 2. मृत्तिकाखण्डवत् 'ढेफुं' इति भाषायाम् ।

दृष्ट्वा तां जिनदत्तोऽपि, निर्व्याजस्नेहवत्सलाम् ।
सद्योऽनुरागवशगश्चिन्तयामास मानसे ॥३६॥
अहो! अकृत्रिमा प्रीतिः, [1]काऽप्यस्या मयि वर्तते ।
दृष्ट्वा [2]मद्व्यसनं दुःखभागिनी याऽभवत् क्षणात् ॥३७॥
एतस्माद् व्यसनान्मोक्षो, भविष्यति ममाऽद्य चेत् ।
कियत्कालं ततो भोगान्, भोक्ष्येऽहमनया सह ॥३८॥
अन्यथाऽनशनं मेऽस्तु, सागारमिति चिन्तयन् ।
वध्यस्थाने स आरक्षनरैर्नीतो दुराशयैः ॥३९॥
प्रियमित्रस्य पुत्री सा, कन्यका कृतनिश्चया ।
कायोत्सर्गं व्यधाद् गेहचैत्ये गत्वा मनस्विनी ॥४०॥
चेतसाऽचिन्तयच्चैवं, मातः! शासनदेवते! ।
जिनस्य कुरु सान्निध्यं, यद्यहं जैनशासनी[3] ॥४१॥
तस्यास्तस्य[4] च शीलेन, तुष्टा शासनदेवता ।
बभञ्ज शूलिकां सद्यो, वारान् त्रीन् तृणमात्रवत् ॥४२॥
स चोद्बद्धस्ततो वृक्षे, रज्जुः छिन्ना झटित्यपि ।
कृताः खड्गप्रहाराश्च, जज्ञिरे कुसुमस्रजः ॥४३॥
आरक्षकनरास्तस्य, दृष्ट्वाऽतिशयमीदृशम् ।
विस्मिताः कथयन्ति स्म, तमागत्य महीभुजः ॥४४॥
भयविस्मयसम्पूर्णः, स गत्वा तत्र सत्वरम् ।
जिनदत्तं गजाऽऽरूढमानिनाय निजौकसि ॥४५॥
पृष्टोऽथ सर्ववृत्तान्तं, जिनस्तस्य न्यवेदयत् ।
रक्षति स्माऽऽरक्षकं च, मृत्योर्जीवदयापरः ॥४६॥
अनुज्ञातस्ततो राज्ञा, निजगेहमगादसौ ।
पित्रादिस्वजनस्तस्य, सर्वोऽपि मुमुदेतराम् ॥४७॥

1. अपूर्वा । 2. मद्दुःखम् । 3. जैनशासनरक्ता । 4. जिनदत्तस्य ।

आगत्य प्रियमित्रेण, जिनदत्तस्य धीमतः ।
वार्त्ताऽऽचख्ये[1] स्वनन्दिन्या देवताऽऽराधनादिका ॥४८॥
ततस्तुष्टो विशेषेण, स तां जिनमतीं सतीम् ।
पर्यणैषीत् सुमुहूर्त्ते, महोत्सवपुरःसरम् ॥४९॥
भुक्त्वा भोगाँस्ततः कालं, कियन्तमनया सह ।
प्रवव्राज विरक्ताऽऽत्मा, सुस्थिताऽऽचार्यसन्निधौ ॥५०॥
पालयित्वा चिरं दीक्षां, खड्गधारासमामिमौ ।
विपद्यान्ते [2]समाधानपरौ त्रिदिवमीयतुः ॥५१॥

ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्ग च पञ्चमम् ॥
वरं वह्निशिखा पीता, सर्पास्यं चुम्बितं वरम् ।
वरं हालाहलं लीढं, परस्वहरणं न तु ॥
परस्वं तस्करो गृह्णन्, वधबन्धादि नेक्षते ।
पयः पायीव लगुडं, बिडाल उपरिस्थितम् ॥
परार्थग्रहणे येषां, नियमः शुद्धचेतसाम् ।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां, स्वयमेव स्वयम्वराः ॥
अनर्था दूरतो यान्ति, साधुवादः प्रवर्त्तते ।
स्वर्ग सौख्यानि ढौकन्ते, स्फुटमस्तेय चारिणाम् ॥

1. कथिता । 2. समाधिपरौ जिनमतीजिनदत्तौ ।

स्थूलमैथुनविरमणव्रते करालपिङ्गकथा ।

(५)

औदारिकं वैक्रियकं, द्विविधं मैथुनव्रतम् ।
तिर्यङ्मनुष्यभेदेनौदारिकं तु द्विधा भवेत् ॥१॥
विज्ञेयं वैक्रियं* चैकविधं देवाङ्गनागतम् ।
एतद् व्रतं समस्तानां, व्रतानामपि *दुःसहम् ॥२॥
परदारप्रसक्तानां, दुःखानि स्युरनेकधा ।
यथा करालपिङ्गोऽभूत्, पुरोधा दुःखभाजनम् ॥३॥
अस्तीह भरतक्षेत्रे, पुरं नलपुराऽभिधम् ।
बभूव नलपुत्राऽऽख्यस्तत्र राजा महाभुजः ॥४॥
करालपिङ्गो नाम्नाऽभूत्, तस्याभीष्टः पुरोहितः ।
शान्तिकर्मणि निष्णातो, रूप-यौवनवित्तवान् ॥५॥
महेभ्यतनयस्तत्र पुष्पदेवोऽभिधानतः ।
मित्रं पुरोहितस्यास्य, वसति स्म वणिग्वरः ॥६॥
तस्याऽऽसीत् प्रवरा भार्या, पद्मश्रीः प्राणवल्लभा ।
पतिव्रताप्रभृतिभिः, स्त्रीगुणैः समलङ्कृता ॥७॥
[1]पुरोधसाऽन्यदा तेन, केनचिद्धितकर्मणा ।
तोषितः पृथिवीपालस्ततः सोऽस्मै ददौ वरम् ॥८॥
विषयाऽऽसक्तचित्तेन, तेनेदं याचितं ततः ।
पुरेऽस्मिन् स्वेच्छया रामा, रमणीया मया प्रभो! ॥९॥
राजा प्रोवाच या काचिदिच्छति त्वामिहाऽबला[2] ।
सेवनीया त्वया सा हि, सर्वदा नापरा पुनः ॥१०॥

* 'वैक्रियं च' इति 'क-ख' पाठः । * ' दुष्करम्' इति 'ख' पाठः । 1. पुरोहितेन । 2. स्त्री ।

अनिच्छन्तीं च चेद् [1]रामां, रंस्यसे वाऽर्थयिष्यसि ।
करिष्यामि ततो दण्डं, पारदारिकवत् तव ॥११॥
स्वैरं सञ्चरता तेन, पुरे तस्मिन् पुरोधसा ।
वल्लभा पुष्पदेवस्य, पद्मश्रीर्वीक्षिताऽन्यदा ॥१२॥
ततो विद्युल्लतानाम्नीं, तस्या दासीं जजल्प सः ।
भद्रे! भण तथेमां त्वं, यथा वाञ्छति मामसौ ॥१३॥
सतीत्वं पालयन्ती सा, नेच्छत्येनं कथञ्चन ।
स्वयं करालपिङ्गेन, रन्तुमभ्यर्थिताऽन्यदा ॥१४॥
साऽवादीद् मेदृशं ब्रूहि, ज्ञास्यत्येतत् सखा तव ।
सोऽब्रवीच्च तथा कार्यं, यथाऽन्यत्र प्रयात्यसौ ॥१५॥
कथितं निजकान्तस्य, तद्वाक्यमखिलं तया ।
प्रतीक्षमाणः कालं च, सोऽस्थाद् धृत्वा मनस्यदः ॥१६॥
पुरोहितेन तेनाऽथ, विद्यासामर्थ्यतोऽन्यदा ।
कृता दुर्विषहा शीर्षे, वेदना मेदिनीपतेः ॥१७॥
तमाकार्य ततो राज्ञा, तत्स्वरूपं निवेदितम् ।
अपनिन्ये [2]सका तेन, शिरोऽर्त्तिर्मन्त्रवादिना ॥१८॥
पुनस्तुष्टोऽस्य भूपालोऽवदद् याचस्व किञ्चन ।
तेनापि जल्पितं देव!, कुर्विदं त्वं वचो मम ॥१९॥
किञ्जल्पिसंज्ञके द्वीपे, सन्ति किञ्जल्पिकाः खगाः ।
सुस्वरा दृश्यमानाश्च, भवन्ति सुखदा हि ते ॥२०॥
तेषामानयनार्थं तत्, पुष्पः सम्प्रेष्यतां वणिक् ।
तदङ्गीकृत्य भूपोऽपि, तदर्थं विससर्ज तम् ॥२१॥
[3]सौवस्तिककृतं चैतत्, सोऽपि विज्ञाय बुद्धिमान् ।
भर्तुः प्रमाणमादेश, इत्युक्त्वा च ययौ गृहम् ॥२२॥

1. स्त्रियम् । 2. सा एव सका । 3. सौवस्तिकः पुरोहितः ।

अकारयद् भूमिगृहं, गृहस्यान्तस्ततश्च सः ।
नरैः प्रत्ययितैर्यन्त्रपर्यङ्कं तस्य चोपरि ॥२३॥
भणिताश्च नरा एते, यद्येत्यत्र पुरोहितः ।
तद् बद्ध्वा छन्नमेवायमानेतव्यो ममान्तिकम् ॥२४॥
दत्त्वाऽऽदेशममुं तेषां, सोऽथ निःसृत्य मन्दिरात् ।
किल देशान्तरं गन्तुं, तस्थौ क्वापि पुराद् बहिः ॥२५॥
हृष्टः करालपिङ्गोऽगात्, पुष्पदेवस्य मन्दिरे ।
तत्रोपवेशितस्तस्मिन्, पर्यङ्के यन्त्रनिर्मिते ॥२६॥
पतितश्च ततो भूमिगृहे तत्र स्थितैर्नरैः ।
बद्ध्वा मयूरबन्धैश्च, पुष्पदेवस्य सोऽर्पितः ॥२७॥
तेनासावात्मना सार्धं, नीतो देशान्तरं ततः ।
षड्भिर्मासैर्वलित्वाऽऽगात् पुनरेष निजं पुरम् ॥२८॥
निर्गाल्य [1]मदनं तेन, लिप्त्वा पौरोहितं वपुः ।
पञ्चवर्णैस्ततः पिच्छैः, परितोऽलङ्कृतं व्यधात् ॥२९॥
गत्वाऽथ भूपतेः पार्श्वे, पुष्पदेवो व्यजिज्ञपत् ।
गृहीता बहवोऽभूवन्, देव! ते पक्षिणो मया ॥३०॥
परमागच्छतो मार्गे, ते सर्वे निधनं गताः ।
आनीतस्त्वेक एवास्ति, तत् तं किं दर्शयामि वः? ॥३१॥
राजा प्रोवाच तमिहाऽऽनीय दर्शय मे द्विजम्[2] ।
शृणोमि सुस्वरं तस्य, तं च पश्याम्यहो! यथा ॥३२॥
ततश्चाऽऽनीय मुक्तो द्राक्, तेनासौ नृपतेः पुरः ।
ऊचे च भूपतिरहो!, अपूर्वं रूपमस्य हि ॥३३॥
यदयं [3]मर्त्यसंकाशो, युक्तः पक्षतिभिस्तथा ।
तदस्य श्रावय त्वं मामितः श्रुतिसुखं[4] स्वरम् ॥३४॥

1. मदनं लोके 'मीण' इति प्रसिद्धम् । 2. पक्षिणम् । 3. मनुष्यसदृशः । 4. कर्णसुखकरम् ।

आदाय [1]प्राजनं सोऽथ, तं विव्याधाऽऽरया[2] भृशम् ।
जल्पेति भणितस्तेन, किं जल्पामीति सोऽवदत् ॥३५॥
राजाऽपि दर्शनं तस्य, दृष्ट्वा तमुपलक्ष्य च ।
ऊचे भोः पुष्प! पक्ष्येष, मत्पुरोहितसन्निभः ॥३६॥
स एवायमिति प्रोक्ते, तेन भूयोऽब्रवीन्नृपः ।
*कथमीदृक् कृत इति, व्याचख्यौ सोऽथ तत्कथाम् ॥३७॥
ततश्चाऽऽ[3]रक्षकनरा, इत्यादिष्टा महीभुजा ।
अन्यायकारिणममुं, रे! व्यापादयताधमम् ॥३८॥
नानाविडम्बनाः कृत्वा, भ्रमयित्वा पुरेऽखिले ।
स तैर्व्यापादितो[4] घोरां, जगाम नरकावनिम् ॥३९॥
तत्रापि प्रज्वलल्लोहपुत्रिकाऽऽलिङ्गनादिकम् ।
दुःखं विषह्य संसारमपारं स भ्रमिष्यति ॥४०॥

स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥
न आसक्त्या सेवनीया, हि स्वदारा अप्युपासकैः ॥
आकरः सर्वपापानां, किं पुनः परयोषितः ॥
प्राण सन्देहजननं, परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥
चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥
पीतोन्मत्तो यथा लोष्टं, सुवर्णं मन्यते नराः ।
तथा स्त्री सङ्गजं दुःखं, सुखं मोहान्ध मानसं ॥

1. वृषभादेस्ताडनोपयोगि तोदनम् । 2. आरया प्राजनगतसूचीसमशस्त्रविशेषेण । * 'किमीदृशः' इति 'ख' पाठः । 3. कोट्टपालनराः । 4. मारितः ।

स्थूलपरिग्रहविरमणव्रते सुलसश्रावककथा ।

(६)

परिग्रहव्रतं स्थूलं, सचित्ताचित्तमिश्रकैः ।
भेदैस्त्रिधा तथा तच्च, नवभेदं भवत्यहो! ॥१॥
धने धान्ये क्षेत्रवास्तुरूप्यकुप्येषु हेमनि ।
द्विपदे चतुष्पदे च, कुर्यान्मानं परिग्रहे ॥२॥
एतस्मादनिवृत्तानां, दुःखानीह शरीरिणाम् ।
सुलसश्रावकस्येव, सञ्जायन्ते निरन्तरम् ॥३॥
इहामरपुरं नाम, नगरं भरतावनौ ।
विद्यते तत्र भूपालोऽमरसेनोऽभवद् बली ॥४॥
श्रेष्ठी वृषभदत्ताऽऽख्यस्तत्रावात्सीद् विवेकवान् ।
श्राद्धोऽविचलसम्यक्त्वो, जिनसंयतपूजकः ॥५॥
तस्याऽऽसीज्जिनदेवीति, गेहिनी गुणसंयुता ।
सौन्दर्यसारकलशः, सुलसो नाम तत्सुतः ॥६॥
सम्प्राप्तो यौवनं सोऽथ, पितृभ्यां परिणायितः ।
तनयां जिनदासस्य, सुभद्रां नाम कन्यकाम् ॥७॥
जनकस्योपदेशेन, सोऽथ गुर्वन्तिकं गतः ।
श्राद्धव्रतानि जग्राह, परिग्रहमितिं* तु न ॥८॥
कलासु रसिकः सोऽथ, नो विषयेष्वरज्यत ।
श्रेष्ठिन्या भणितः श्रेष्ठी, तं निरीक्ष्य तथाविधम् ॥९॥
आवयोस्तनयो नाथ!, दृश्यते निःस्पृहो यतः ।
तत् त्वं तथा कुरु यथा, विषयैषी भवेदयम् ॥१०॥
श्रेष्ठ्यूचे मेदृशं वादीरभ्यस्तेषु भवे भवे ।

* '०मृते पुनः' इति 'क' पाठः ।

भावेषु स्वयमेवायं, प्रायः प्राणी प्रवर्तते ।।११।।
तथाऽप्यत्याग्रहेणास्याः, श्रेष्ठिना निजनन्दनः ।
दुर्ललितानां [1]पटले, क्षिप्तो [2]वैदग्ध्यहेतवे ।।१२।।
विस्मारितकलाऽभ्यासः, स तैः कौतुकदर्शनात् ।
नीतः कामपताकाया, वेश्यायाः सदनेऽन्यदा ।।१३।।
सम्भ्रान्तया तया *सोऽथाक्कया च स्वागतोक्तिभिः ।
आसनस्य च दानेन, धनवानिति पूजितः ।।१४।।
उपविष्टश्च तत्रायं, मित्राणामुपदेशतः ।
प्रारब्धा चानया गोष्ठी, सर्वभाषाविदग्धया ।।१५।।
तद्वाक्यरचनाऽऽक्षिप्तं, तं विज्ञाय शनैः शनैः ।
जग्मुर्निजं निजं स्थानं, पापमित्रा[3] इमेऽखिलाः ।।१६।।
तथा तया रञ्जितोऽसौ, यथा तन्मन्दिरान्न हि ।
निःससार धनं +मातापितरौ प्रेषयतः स्म च ।।१७।।
तत्रास्थात् षोडशाब्दानि, सुलसस्तस्य तौ पुनः ।
संस्थितौ[4] पितरौ, भार्या, तथैव प्रैषयद् धनम् ।।१८।।
साऽथ सम्प्रेषयामासालङ्कारान् निष्ठिते[5] धने ।
अक्का तानार्पयत् तस्याः, सहस्रं रूपकाँस्तथा ।।१९।।
भणिताऽथ तया कामपताका पुत्रि! ते पतिः ।
सञ्जातो गतविभवस्तत् परित्यज्यतामयम् ।।२०।।
दत्तं भूरि धनं येन, स कथं त्यज्यतेऽम्बिके! ।
तयेत्युक्ताऽनुरागिण्या, भूयोऽभाषिष्ट कुट्टिनी ।।२१।।
वेश्याधर्मे सदा सेव्यो, विभवालङ्कृतो नरः ।

1. समूहे । 2. चातुर्य० । * 'ऽथाभियानस्वागतोक्तिभिः' इति 'क-ख' पाठः । 3. मित्रशब्दः सुहृदर्थे तु क्लीबे वर्तते, अत्र पुंस्त्वं चिन्त्यम् । + 'मातातातौ' इति 'क-ख' पाठः साधुः, अन्यथा छन्दो भङ्गो भवति । 4. मृतौ । 5. क्षीणे ।

निर्धनस्तु परित्याज्यो, निष्पीडितरसेक्षुवत् ||२२||
इति प्रोक्तेऽपि सा यावत्, सुलसं त्यजति स्म न ।
स्वयमेवाक्कया तावदित्यभाणि [1]सकोऽन्यदा ||२३||
क्षणमेकमधोभूमौ, भद्रावतर सम्प्रति ।
यावत् प्रमार्ज्यते चित्रशालेयं रजसाऽञ्चिता ||२४||
अज्ञाततदभिप्रायः, सोऽवतीर्य स्थितस्ततः ।
चेट्या प्रोक्तः किमत्र त्वं, निर्लज्जाद्यापि तिष्ठसि? ||२५||
निःसृत्य तद्गृहात् सोऽथ चचाल स्वगृहं प्रति ।
स्वर्गाच्च्युत्वा मर्त्यभवं, [2]गीर्वाण इव खेदवान् ||२६||
साध्वङ्गमिव निर्लेपं, पक्षिवच्च निरर्गलम् ।
तेनौको[3] ददृशे *निर्वृत्यप्यनिर्वृतिकारकम् ||२७||
प्रत्यासन्ननरः कश्चित्, पृष्टस्तेन यथा किमु ।
इदं वृषभदत्तस्य, भद्र! गेहं भवेन्न वा? ||२८||
भवतीत्युदिते तेन, सोऽब्रवीच्च किमीदृशम् ।
दृश्यते? किं तु स श्रेष्ठी, कुशली वर्तते न वा? ||२९||
ततश्च श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्योः, [4]पञ्चत्वादिकथामसौ ।
सुलसस्य समाचख्यौ, तच्छ्रुत्वा सोऽप्यचिन्तयत् ||३०||
हा! मया दुष्टपुत्रेण, वेश्याऽऽसक्तेन पाप्मना ।
पितरौ दुष्प्रतीकारौ, न ज्ञातौ संस्थितावपि ||३१||
इदं हि धनदाऽऽवाससदृक्षं पितृमन्दिरम् ।
मया व्यसनिना हन्त!, कृतं प्रेतवनोपमम् ||३२||
सुहृत्स्वजनलोकानां, पापोऽहं वदनं निजम् ।
कथं प्रदर्शयिष्यामि, लक्ष्मीलाभविवर्जितः? ||३३||

1. सुलसः । 2. देवः । 3. गृहम् । * 'स्वीयं मनोऽनिर्वृति०' इति 'ख' पाठः । 4. पञ्चत्वं मरणम् ।

वलित्वाऽसौ ततः स्थानाद्, गत्वा च नगराद् बहिः ।
जीर्णोद्याने खरतालपत्रे क्षुरिकयाऽलिखत् ॥३४॥
स्वस्ति नत्वा जिनाधीशान्, सुलसः प्रेयसीं निजाम् ।
स्वक्षेमवार्तयाऽऽह्लाद्य, संदिदेशेति साञ्जसम् ॥३५॥
प्रिये! वेश्यागृहादद्य, निर्गतोऽहं ततः कथाम् ।
श्रुत्वा मरणजां पित्रोर्ह्रिया नाऽऽगां त्वदन्तिके ॥३६॥
गत्वा देशान्तरे लक्ष्मीमुपार्ज्य मानसेप्सिताम् ।
इहैष्यामि दिनैः स्तोकैः, खेदः कार्यस्त्वया न हि ॥३७॥
लिखित्वा क्षुरिकाऽग्रेणेत्यक्षराऽऽलीं ततश्च सा ।
सम्पूरिताऽङ्गारमष्या, तेन संवर्तितं च तत्[1] ॥३८॥
तदा च तत्प्रियादासी, दैवात् तत्र समागता ।
तस्याः समर्प्य तत् पत्रं, परदेशे ययावसौ ॥३९॥
एकस्मिन्नगरे गत्वा, जीर्णोद्याने स्थितोऽथ सः ।
प्ररोहं [2]ब्रह्मवृक्षस्य, निरीक्ष्यैवं व्यचिन्तयत् ॥४०॥
नैव स्यात् क्षीरवृक्षस्य, [3]प्ररोहो विभवं विना ।
बह्वल्पं वा भवेद् द्रव्यं, ध्रुवं बिल्वपलाशयोः ॥४१॥
प्ररोहे वीक्षिते सूक्ष्मे, स्तोकद्रव्यं विवेद सः ।
सुवर्णमिति चाज्ञासीत्, क्षीरे तद्वर्णके सति ॥४२॥
ॐ नमो धरणेन्द्राय, नमः श्रीधनदाय च ।
एवमाद्युच्चरन् मन्त्रं, तत् स्थानं खनति स्म सः ॥४३॥
लब्धं सहस्रदीनारमानं, तच्च निधानकम् ।
संगोप्य परिधानान्तः, प्रविवेश पुरेऽथ सः ॥४४॥
एकस्य वणिजो हट्टे, निविष्टो व्याकुलस्य च ।
प्रभूतग्राहकैस्तस्य, साहाय्यं सुलसो व्यधात् ॥४५॥

1. पत्रम् । 2. पलाशतरोः । 3. अङ्कुरः ।

विलोक्य तस्य दक्षत्वं, हृष्टः श्रेष्ठी व्यचिन्तयत् ।
अहो! सुपुरुषस्यास्य, विज्ञानं पुण्यसंयुतम् ॥४६॥
जातः प्रभुतलाभोऽद्य, साहाय्यादस्य यन्मम ।
तदयं न हि सामान्य, इति ध्यात्वाऽब्रवीच्च सः ॥४७॥
कुतो ग्रामात् पुराद् वा, त्वमागतोऽसि महाशय!? ।
सुलसोऽवोचदमरपुराद्, भद्राऽऽगतोऽस्म्यहम् ॥४८॥
तर्हि प्राघूर्णकः कस्येति पृष्टो श्रेष्ठिना पुनः ।
तवैवेत्युक्तवान् सोऽथ, निन्ये तेन च मन्दिरे ॥४६॥
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानभोजनानि च कारितः ।
पुनरागमने हेतुं, पृष्टः श्रेष्ठिवरेण सः ॥५०॥
सुलसः स्माह ताताहमर्थोपार्जनहेतवे ।
इहाऽऽगतोऽस्मि तत्, किञ्चिद् हट्टं मम प्रदर्शय ॥५१॥
गृहीत्वा भाटकेनाट्टं, व्यवहारं प्रकुर्वतः ।
षड्भिर्मासैः सुदीनारा, द्विगुणास्तस्य तेऽभवन् ॥५२॥
क्रयाणकानि संगृह्य, महासार्थसमन्वितः ।
जगाम सोऽथ तिलकपुरे वार्धितटस्थिते ॥५३॥
तत्राप्यसञ्जायमाने, लाभे चेतोऽभिवाञ्छिते ।
प्रययौ यानमारुह्य, रत्नद्वीपे ततश्च सः ॥५४॥
उपायनमुपादाय, समीपे नृपतेर्गतः ।
अमुनाऽप्यर्धदानेन, प्रसादोऽस्य व्यधीयत ॥५५॥
*लब्धान्यनेन रत्नानि, लाभश्चानेन वाञ्छितः ।
प्रवृत्तः पुनरप्येष, स्वदेशाभिमुखं ततः ॥५६॥
[1]लक्ष्मीमादाय चलिते, तस्मिंस्तद्यानपात्रकम् ।

* '० न्यनेक' इति 'क-ख' पुस्तके पाठः । 1. लौकिकमतात् लक्ष्मीः- समुद्रसुता स्यात् धनं चेतिश्लेषात् स्वपुत्रीलक्ष्मीवियोगात् समुद्रस्य मानसमिव तद् यानपात्रं तुत्रोटेत्यत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

पुस्फोट स्ववियोगाऽऽर्त्तं, वारिधेरिव मानसम् ॥५७॥
लब्ध्वा फलहकं किञ्चिद्, वक्षसा परिरभ्य तत् ।
पञ्चभिर्दिवसैः पारं, प्राप्तवान् सुलसोऽम्बुधेः ॥५८॥
प्राणयात्रां व्यधात् तत्र, पेशलैः कदलीफलैः ।
पपौ च नीरमन्विष्य, स्वस्थः पुनरचिन्तयत् ॥५९॥
अनन्यसदृशां ऋद्धिं, सम्प्राप्याऽपि कृतोऽस्म्यहम् ।
हस्तद्वितीयो दैवेन, पश्याऽहो! पाप्मनः फलम् ॥६०॥
त्याज्यः पुरुषकारो नो, विपत्स्वपि मया खलु ।
यस्माद् वदन्ति विद्वांसो, विशेषेणेदृशं वचः ॥६१॥
नीचैर्नाऽऽरभ्यते कार्यं, कर्तुं विघ्नभयात् खलु ।
प्राऽऽरभ्य त्यज्यते मध्यैः, किञ्चिद्विघ्न उपस्थिते ॥६२॥
उत्तमास्त्वन्तरायेषु, भवत्स्वपि सहस्रशः ।
प्रशस्यं कार्यमारब्धं, न त्यजन्ति कथञ्चन ॥६३॥
एवं विचिन्त्य सुलसः, प्रवृत्तो गन्तुमग्रतः ।
ददर्शैकत्र गृध्राणां, सन्निपातं सकौतुकः ॥६४॥
गतस्तदनुसारेण, तत्रापश्यदसौ शवम् ।
ग्रन्थौ तस्य सुरत्नानि, कोटिमूल्यानि पञ्च च ॥६५॥
ततो दध्यौ मया तावददत्ताऽऽदाननिर्वृतिः ।
कृता परमिदं द्रव्यं, ग्राह्यमस्वामिकं यतः ॥६६॥
एतन्मूलेन[1] चैत्यानि, कारयिष्याम्यहं किल ।
अमीषां स्वामिनः पुण्यमनूनं भवतादिति ॥६७॥
एवं विचिन्त्य रत्नानि, गृहीत्वा तानि सोऽचलत् ।
सम्प्राप्तो जलधितटं, नाम वेलाकुलं पुरम् ॥६८॥
ययौ च श्रेष्ठिनस्तत्र, श्रीसारस्य निकेतने ।

1. मूलधनेन ।

तेनापि विहिता तस्य, भोजनाद्युचितक्रिया ||६६||
कोटिद्वयेन विक्रीय, तत्र रत्नद्वयं ततः ।
भाण्डान्यादाय तेन, स्वदेशं प्रति चचाल सः ||७०||
सहितो गुरुसार्थेन, सम्प्राप्तोऽथ महाऽटवीम् ।
तत्रैकत्र प्रदेशेऽस्थात्, सार्थो मध्यन्दिनेऽथ सः ||७१||
धान्यपाकादिकार्येषु, व्यग्रः *सार्थे जनोऽखिलः ।
कुतोऽप्यतर्कितैरेत्य, लुण्टितो भिल्लतस्करैः ||७२||
संनह्य सपरीवारोऽप्यहंयुः[1] सुलसस्ततः ।
डुढौके संगरायाथ, सार्धं तस्करसेनया ||७३||
पलायाञ्चक्रिरे [2]भिल्लै र्जितास्ते सुलसानुगाः ।
सुलसस्तु गृहीतस्तैर्युध्यमानो [3]मलिम्लुचैः ||७४||
विक्रीतश्च वणिक्पार्श्वे, *द्रव्यलाभेन तेन च ।
परकूले मर्त्यरक्तार्थिनो, लोकस्य सन्निधौ ||७५||
रक्तमाकृष्यते तत्र, मानुषाणां शरीरतः ।
क्षिप्यते तच्च कुण्डेषु, जायन्ते तत्र जन्तवः ||७६||
कृमिरागो भवेत् तैश्च, रज्यते तेन चीवरम् ।
रक्षाऽपि रक्तवर्णा स्याद्, दग्धे तस्मिन् [4]कृशानुना ||७७||
सुलसस्तादृशं दुःखं, सहमानोऽन्यदा हृतः ।
[5]रक्ताञ्चिताङ्गो नभसा, सामुद्रिकपतत्रिणा ||७८||
नीतश्च रोहणगिरौ, तत्र मुक्त्वा शिलातले ।
तमत्तुमुद्यतः[6] पक्षी, दृष्टोऽन्येन स [7]पत्रिणा ||७९||
कलहं कुर्वतोः सोऽथ, पक्षिणोः प्राविशद् गुहाम् ।
निर्ययौ च गुहामध्यादन्यत्र गतयोस्तयोः ||८०||

* 'सार्थजनोऽ०' इति 'ख' पाठः । 1. मानी । 2. 'भिल्लैर्जितास्ते सुलसानुगाः पलायाञ्चक्रिरे' इत्यन्वयः । 3. चौरैः । * '०लोभेन' इति 'क-ख' पाठः । 4. अग्निना । 5. रक्तलिप्ताङ्गः । 6. भक्षितुम् । 7. पक्षिणा ।

एकस्मिन्निर्झरे गात्रं, प्रक्षाल्य पयसा ततः ।
व्रणानि रोहयामास, संरोहिण्या रसेन सः ॥८१॥
उत्तताराचलात् सोऽथ, गर्तारेणूत्कराँस्तथा ।
नरान् खनित्रपाणींश्चाद्राक्षीत् पञ्चकुलं तथा ॥८२॥
पप्रच्छैकं नरं सोऽथ, भद्र! कोऽयं शिलोच्चयः? ।
को देशः? कोऽथवा* भूपः?, किमन्यच्चेति शंस मे ॥८३॥
नरेण भणितं तेन, याति देशान्तरे हि यः ।
तत्स्वरूपमसौ वेत्ति त्वं, तु नामापि वेत्सि न ॥८४॥
पतितोऽसि किमाकाशात्, पातालान्निर्गतोऽसि वा? ।
कथमत्रागतोऽसि त्वं, यन्न जानासि किञ्चन? ॥८५॥
सुलसोऽप्यब्रवीत् सत्यं, गगनात् पतितोऽस्म्यहम् ।
भूयः किमिति तेनोक्ते, शशंस सुलसोऽप्यदः ॥८६॥
सुहृद्विद्याधरो मेऽस्ति, तेनाहं मेरुपर्वते ।
नभसा नेतुमारब्धो, रूपं तस्य प्रदर्शितुम् ॥८७॥
अत्रान्तरे रिपुस्तस्य, तत्राऽऽगात् खेचरोऽपरः।
सह तेन प्रवृत्तोऽसौ संप्रहर्तुं विमुच्य माम् ॥८८॥
एतेन कारणेनाहमाकाशात् पतितः किल ।
आख्याहि त्वमितः सर्वं, भद्र! पृष्टोऽसि यन्मया ॥८९॥
सोऽवदद् रोहणो नाम्ना, देशोऽयं पर्वतोऽपि च ।
नृपतिर्वज्रसारोऽत्र, तस्य पञ्चकुलं ह्यदः ॥९०॥
खनित्रपाणयः पृथ्वीं, खनित्वा पुरुषा इमे ।
रत्नाकृष्टिं प्रकुर्वन्ति, ददते च करं विभोः ॥९१॥
तच्छ्रुत्वा सुलसो दध्यावुपायोऽयं धनार्जने ।
भव्यः परं पुरे क्वापि, स्थितिं कृत्वा करिष्यते ॥९२॥

*' ०ऽत्र वा' इति 'क-ख' पाठः ।

गतोऽथ तैर्नरैः सार्धं, रत्नपुञ्जाभिधे पुरे ।
वृद्धस्य वणिजो गेहे, सोऽगात् तेन च भोजितः ॥६३॥
तस्याऽऽख्याय स्ववृत्तान्तं, सामग्रीं प्रविधाय च ।
रत्नान्यमेलयत् सोऽथ, प्रभूतानि महोद्यमी ॥६४॥
लब्धं तेन महामूल्यं, रत्नमेकमथान्यदा ।
कथञ्चिद् गोपयित्वाऽङ्गे, तद् गर्तायाः स निर्ययौ ॥६५॥
तद्वर्जमन्यरत्नानां, दत्त्वा भागं नरेशितुः ।
पूर्वदिग्भूषणे सोऽगाच्छ्रीपत्तनपुरे वरे ॥६६॥
तत्र विक्रीय रत्नानि, गृहीत्वा च क्रयाणकम् ।
पुनः स्वदेशाभिमुखोऽचलत् प्राप्तश्च सोऽटवीम् ॥६७॥
दग्धं [1]दवाग्निना तत्र, सर्वं तस्य क्रयाणकम् ।
संजातः पुनरेकाकी, ग्रामे क्वापि ययावसौ ॥६८॥
परिव्राजकमेकं च, तत्राद्राक्षीत् प्रणम्य तम् ।
तस्योपान्ते निविष्टोऽसौ तेनैवं परिभाषितः ॥६९॥
कुतस्त्वमागतो भद्र!, गन्तव्यं कुत्र वा त्वया? ।
कार्येण केन वा पृथ्व्यामेकाकी संचरस्यहो! ॥१००॥
सुलसोऽवोचदमरपुराद् भद्राऽऽगतोऽस्म्यहम् ।
सर्वत्र मेदिनीपीठे, विभवार्थी भ्रमामि च ॥१०१॥
सोऽथाऽभाणि परिव्राजा[2], तिष्ठ त्वं मम सन्निधौ ।
कियन्त्यहानि येन त्वामीश्वरं विदधाम्यहम् ॥१०२॥
महाप्रसाद इत्युक्त्वा, सोऽस्थात् तस्यान्तिके ततः ।
एकस्मिन् मन्दिरे तेन, भोजितो बुभुजे च सः ॥१०३॥
गतस्तपस्विनस्तस्यावसथे[3] सुलसस्ततः ।
पप्रच्छैवं कथं त्वं मां, करिष्यसि समृद्धकम्? ॥१०४॥

1. दवं वनम् । 2. तापसः । 3. आश्रमे ।

सोऽथावादीद् रसकूपकल्पोऽस्ति मम सन्निधौ ।
तस्यैकबिन्दुनाऽनेका, विध्यन्ते लोहकोटयः ॥१०५॥
ततो विधेहि सामग्रीं, महिषीपुच्छमेककम् ।
महत्प्रमाणमानीय, मम तावत् समर्पय ॥१०६॥
स्वयं विपन्नसैरिभ्याः[1], पूच्छं तस्यार्पयत् सकः ।
षण्मासाँस्तैलमध्ये तत्, प्रक्षिप्तं तेन योगिना ॥१०७॥
कल्पस्य पुस्तिका तेन, धृतैकस्मिन् करे ततः ।
द्वितीये च करे पुच्छं, वरत्रायुगलं[2] तथा ॥१०८॥
द्वे *तुम्बिके मञ्चिकां च, [3]बलेः पटलिकां तथा ।
अग्निस्थिकां* च सुलसमस्तकेऽसौ न्यवेशयत् ॥१०९॥
तौ गिरेर्विवरं प्राप्तौ, तस्य द्वारनिवेशिताम् ।
अभ्यर्च्य यक्षप्रतिमां, तत्र प्राविशतां ततः ॥११०॥
उत्तस्थौ तत्र यः कश्चिद्, भूतवेतालराक्षसः[4] ।
बलिं चिक्षेप सुलसः, सम्मुखं तस्य निर्भयः ॥१११॥
सैरिभीपुच्छदीपेन, दृष्टमार्गावुभाविमौ[5] ।
योजनद्वयमुल्लङ्घ्य, सम्प्राप्तौ रसकूपकम् ॥११२॥
चतुर्हस्तसुविस्तीर्णं, दीर्घं च चतुरः करान् ।
चतुरस्रममुं प्रेक्षाञ्चक्राते तौ च हर्षितौ ॥११३॥
मञ्चिकां प्रगुणीकृत्य, रज्जू तत्र निबध्य च ।
योग्यूचे सुलसात्र* त्वमुपविश्यावटे[6] विश ॥११४॥
गृहीततुम्बकः सोऽथोपविष्टोऽत्र शनैः शनैः ।
प्रक्षिप्तो योगिना कूपतलेऽगाद् रससन्निधौ ॥११५॥
नमस्कारं पठन् यावद्, रसमादातुमुद्यतः ।

1. मृतमहिष्याः । 2. रज्जुद्वयम् । * 'तुम्बके' इति 'ख' पाठः । 3. पूजोपयुक्तद्रव्यस्य । *अग्निपात्रं
4. एकवचनं चिन्त्यम् । 5. योगि-सुलसौ । * '०सातस्' इति 'क' पाठः । 6. कूपे ।

सोऽभवन्निर्ययौ तावत् तस्य मध्याददिति स्वरः ||११६||
कुष्ठिसंज्ञं रसममुं, मा स्प्राक्षीस्त्वं करेण भोः ।
अमुनाऽङ्गे विलग्नने, प्राणत्यागो भवेद् यतः ||११७||
साधर्मिकस्य साहाय्यं, ततस्ते प्रकरोम्यहं ।
एते रसेन सम्पूर्य तुम्बिके तेऽर्पयामि यत् ||११८||
सुलसस्तत् समाकर्ण्य प्रोचे त्वां धर्मबान्धव!
वन्दे कस्त्वं स्वरूपं स्वं, शंस मे कौतुकं महत् ||११९||
सोऽब्रवीद् भूविशालाऽऽख्यपूर्वासी[1] वणिगस्म्यहम् ।
जिनशेखराभिधानो, वाणिज्येनाम्बुधौ गतः ||१२०||
भग्नं प्रवहणं तत्र, जीवितोऽहं कथञ्चन ।
क्षिप्तः परिव्राजकेन, कूपेऽस्मिन् रसलोभवान् ||१२१|
[2]कण्ठे गतस्य मे पार्श्वाद्, गृहीत्वा रसतुम्बकम् ।
अहं रसान्तः प्रक्षिप्तस्तेन भोः! पापकर्मणा ||१२२||
मन्ये त्वमपि तेनैव, प्रक्षिप्तोऽस्यत्र किन्तु मे ।
आत्मनो गोत्रमाख्याहि, सुश्रावक! महाशय! ||१२३||
सुलसोऽपि स्ववृत्तान्तं, ततस्तस्य न्यवेदयत् ।
स च तस्यार्पयामास, रसेनाऽऽपूर्य [3]तुम्बके ||१२४||
बद्धा ते मञ्चिकाऽधस्ताद् रज्जू चालयति स्म सः ।
ऊर्ध्वकूपतटं यावदाकृष्टो योगिना ततः ||१२५||
ऊचे च भद्र! प्रथमं, तुम्बके मे समर्पय ।
सुलसः स्माऽऽह बद्धे स्तो, मञ्चिकाया अधो हि ते ||१२६||
असकृद् याचमानेऽथ, रसतुम्बे तपस्विनि ।
सुलसो नाऽऽर्पयत् तस्य, ते चिक्षेप च कूपके ||१२७||
विमुच्य कूपमध्ये तं, ययौ सोऽथ त्रिदण्डिकः ।

1. नगरवास्तव्यः । 2. कूपकण्ठे । 3. द्वे तुम्बे ।

सुलसोऽपि मेखलायां, पपात न रसान्तरे ॥१२८॥
ततः पुनर्नमस्कारमुच्चकैरुच्चरन्नयम् ।
आत्मानमात्मनैवेति, बोधयामास दुःखितः ॥१२९॥
हा! जीव! विनिवृत्तिं, चेदकरिष्यः परिग्रहात् ।
ततस्तेनेदृशं दुःखमभविष्यत् कथञ्चन ॥१३०॥
अधुनाऽपि गृहीत्वा त्वं, श्रामण्यं स्वस्य साक्षिकम् ।
गृहाणानशनं येन, तरस्याशु भवार्णवम् ॥१३१॥
इत्युदित्वा विधातुं, तदुद्यतोऽसौ निवारितः ।
जिनशेखरसंज्ञेन, तेनेदं परिजल्पता ॥१३२॥
यदा तदा [1]मुशलिकाऽत्रैति केनापि वर्त्मना ।
रसं पातुं ततस्तस्या, वलितायास्त्वमप्यहो! ॥१३३॥
गाढमादाय तत्पुच्छमितः कूपाद् विनिःसरेः ।
मरिष्याम्यधुना किन्तु, तत् [2]कुर्वाराधनां मम॥१३४॥ युग्मम्।
ज्ञात्वाऽन्तसमयं तस्य, सुलसः श्रावको वरः ।
जिनशासनतत्त्वज्ञो, व्यधादाराधनां वराम् ॥१३५॥
कर्मबीजे विनिर्दग्धे, ये न रोहन्ति भूतले ।
संसारपारगाँस्त्वं, तान् स्मरेदानीमरूहतः* ॥१३६॥
अर्हन्ति वन्दनादीनि, प्रातिहार्याणि येऽथवा ।
सिद्धिपूःसार्थवाहाँस्तानर्हतः स्मर सम्प्रति ॥१३७॥
अष्टप्रकारकर्मारीन्, घ्नन्ति येऽमिततेजसः ।
स्मर्तव्यास्तेऽरिहन्तारो भगवन्तस्त्वयाऽधुना ॥१३८॥
इति तेषां नमस्कारः, सर्वदाऽपि सुखावहः ।
जायते सर्वसत्त्वानां, प्रथमं मङ्गलं तथा ॥१३९॥

1. गोधा । 2. कारयेत्यर्थः । *'०मरोहतः' इति 'क-ख' पाठः ।

*क्षिपयित्वाऽखिलं कर्म, ये गताः परमं पदम् ।
त्रैलोक्यमस्तकस्थाँस्तान्, स्मर सिद्धान् निरञ्जनान् ॥१४०॥
इह ये परमेष्ठी(ष्ठि)नां, द्वितीयस्थानसंस्थिताः ।
तेषां कृतो नमस्कारो, द्वितीयं मङ्गलं भवेत् ॥१४१॥
स्वयं पञ्चविधाऽऽचारमाचरन्ति प्रयत्नतः ।
कथयन्ति च येऽन्येषां, संस्मर्याः सूरयो हि ते ॥१४२॥
[1]षट्त्रिंशद्भिर्गुणैर्युक्ताः, शुभलक्षणशोभिताः ।
भवन्ति ते महात्मानस्तृतीयं मङ्गलं जने ॥१४३॥
येऽङ्गानङ्गगतं सूत्रं, पाठयन्त्युद्यताः सदा ।
सुशिष्यान् निर्जराऽर्थं, तानुपाध्यायान् स्मराधुना ॥१४४॥
उपाध्यायनमस्कारः, क्रियमाणः सुचेतसा ।
जीवलोके समस्ते स्याच्चतुर्थं मङ्गलं खलु ॥१४५॥
साधयन्ति यके सर्वान्, योगान् निर्वाणसाधकान् ।
मनोवाक्कायगुप्ताँस्तान्, भद्र! साधून् नमस्कुरु ॥१४६॥
अष्टादशसहस्राणि, शीलाङ्गानां धरन्ति ये ।
ते साधवो भवन्तीह, पञ्चमं मङ्गलं ध्रुवम् ॥१४७॥
श्रीपञ्चमङ्गलमिदं, सर्वमङ्गलसत्तमम् ।
स्मरेदानीं भवाम्भोधिं, यथा तरसि लीलया ॥१४८॥
चत्वारो मङ्गलं प्रोक्ता, अर्हत्सिद्धसुसाधवः ।
सर्वज्ञोक्तस्तथा धर्मः, सर्वजीवदयापरः ॥१४९॥
सर्वेषामेव लोकानामेते लोकोत्तमा मताः ।
एत एव हि भव्यानां, शरणं खलु देहिनाम् ॥१५०॥
जानासि दुष्कृतं यत् त्वं, छद्मस्थत्वात् कृतं न वा ।
सिद्धानां साक्षिकं तस्य, मिथ्यादुष्कृतमस्तु ते ॥१५१॥

*'क्षपयित्वा' इति 'ख' पाठः। 1. षट्त्रिंशता इति पाठः साधीयान् ।

चातुर्गतिकेऽपि भवे, ये दूना जन्तवस्त्वया ।
तेषामपि समस्तानां, मिथ्यादुष्कृतमस्तु ते ॥१५२॥
वेदनायाः समूहेऽस्मिन्, सङ्ग्राम इव दुःसहे ।
शूरवज्जयकेतुं[1] त्वं, गृहाणाऽऽराधनामिमाम् ॥१५३॥
इत्येषाऽऽराधना श्राद्धसुलसेन प्रजल्पिता ।
जिनशेखरसंज्ञेनाङ्गीकृता श्रावकेण सा ॥१५४॥
कृत्वा भक्तपरित्यागं, नमस्कारं विभावयन् ।
[2]विपद्याष्टमकल्पेऽभूत्, त्रिदशो जिनशेखरः ॥१५५॥
हुंकारादानतोऽथैनं, विवेद सुलसो मृतम् ।
ततो [3]मन्युभराऽऽक्रान्तकण्ठोऽरोदीद् गुरुस्वरम् ॥१५६॥
हा जिनशेखरबन्धो!, साधर्मिक! गुणाऽऽलय! ।
विमुच्य दुःखितं त्वं मां, क्व गतोऽसि महाशय!? ॥१५७॥
धर्माऽऽराधनरज्ज्वा त्वं, निसृत्य भवकूपतः ।
मन्येऽहं त्रिदिवं प्राप्तो, रसकूपगतोऽपि सन् ॥१५८॥
अत्रान्तरे च सा गोधाऽऽगत्य पीत्वा च तं रसम् ।
चचाल सुलसस्तस्या, लाङ्गूले व्यलगद् दृढम् ॥१५९॥
क्वापि सुप्तः स्थितः क्वापि, निविष्टः क्वाप्यसौ ततः ।
कृच्छ्रेण निर्ययौ गोधापुच्छलग्नस्ततोऽवटात् ॥१६०॥
दृष्ट्वा रविं पर्वतांश्च, तस्याः पुच्छं मुमोच सः ।
सापि तद्भयभीताऽगाद्, वेगेन स्थानमात्मनः ॥१६१॥
गृहीत्वैकां दिशं सोऽथ, यावत् प्रचलितस्ततः ।
एकेन दन्तिना दृष्टो, धावितः सोऽपि तं प्रति ॥१६२॥
सोऽथ दध्यावहो! अन्तं, नैकदुःखस्य याम्यहम् ।
यावत् तावत् कुतोऽप्येतत्, द्वितीयं ढौकते मम ॥१६३॥

1. जयपताकां, जयलक्ष्मीमित्यर्थः । 2. मृत्वा । 3. मन्युः शोकः ।

प्रणश्यन् हस्तिना तेन, करेण जगृहेऽथ सः ।
गाढरोषाभिभूतेन, प्रक्षिप्तश्च नभस्तले ॥१६४॥
भवितव्यनियोगेन, पतन्नेकस्य शाखिनः ।
शाखामालम्ब्य तत्रैव, तस्थौ दक्षः स्थिराऽऽशयः ॥१६५॥
यावद्धस्ती तरौ तस्मिन्, रोषाद् वेधं ददावसौ ।
तावत् तत्राऽऽययौ सिंहो, हतस्तेन स वारणः ॥१६६॥
व्याघ्रश्चाऽऽगादथो तत्र, हस्तिमांसं विभक्षितुम् ।
एकभक्ष्यकृते युद्धं, प्रवृत्तं व्याघ्र-सिंहयोः ॥१६७॥
युद्धं प्रकुर्वतोरेवं, तयोर्जाता [1]विभावरी ।
एकस्यां तरुशाखायामुद्योतश्चाभवत् तदा ॥१६८॥
सुलसोऽनलसः[2] सोऽथ, किमेतदिति विस्मितः ।
एकस्य पक्षिणो नीडे, ददर्शैकं मणिं वरम् ॥१६९॥
सर्पास्थीनि च तत्पार्श्वे, विलोक्यैवं व्यचिन्तयत् ।
नूनमेतद् भुजङ्गस्य, फणारत्नं विषापहम् ॥१७०॥
कृत्वा करतलस्थं, तदुत्ततार तरोरसौ ।
अग्निवद् तेजसा [3]तस्य, व्याघ्र-सिंहौ प्रणेशतुः ॥१७१॥
विभातायां [4]त्रियामायां, वस्त्रग्रन्थौ निबध्य तत् ।
प्राप्तः पारमरण्यस्य, सुलसः सप्तभिर्दिनैः ॥१७२॥
एकत्र पर्वते रात्रौ, दृष्ट्वोद्योतं कृशानुजम् ।
सोऽगात् तदनुसारेण, समीपे धातुवादिनाम् ॥१७३॥
दिनानि कतिचित् तत्र, तस्थौ तत्प्रक्रियापरः ।
त एव भोजनं तस्य, ददिरे दक्षताजुषः ॥१७४॥
सुप्तस्य सोऽन्यदा रात्रौ, गृहीतस्तस्य तैर्मणिः ।
तस्य स्थानेऽपरो बद्धः, पाषाणस्तत्प्रमाणकः ॥१७५॥

1. रात्रिः । 2. आलस्यरहितः । 3. सर्पफणामणेः । 4. निशायाम् ।

ततः स्थानादनिष्पद्यमाने स्वर्णे चचाल सः ।
सम्प्राप्तश्चाटवीशीर्षनामकं नगरं क्रमात् ॥१७६॥
रत्नस्य विक्रयार्थं तं, यावद् ग्रन्थिं बिभेद सः ।
तावदश्मानमद्राक्षीत्, न च तं सर्पजं मणिम् ॥१७७॥
ततो दध्यावयं मुष्टोऽस्म्यहं तैर्धातुवादकैः ।
कस्तेषामथवा दोषो?, दोषोऽयं कर्मणो मम ॥१७८॥
महानिशायां सोऽश्वेतचतुर्दश्यामथान्यदा ।
गत्वा महाश्मशानान्तर्गुरुस्वरमदोऽवदत् ॥१७९॥
भो! भो! वेताल-भूता मे, वचनं श्रृणुताऽऽदृताः ।
विक्रीणामि महामांसं, स गृह्णातु य इच्छति ॥१८०॥
तन्निशम्य किलकिलां, कुर्वन्तः सहसोत्थिताः ।
नृत्यन्तः कर्त्रिकाहस्ता, भूत-प्रेतादयो हि ते ॥१८१॥
अवदँश्चेन्महामांसं, विक्रीणासि विरागतः ।
पतात्र स्थानके तत् त्वं, गृह्णीमो येन तद् वयम् ॥१८२॥
निर्भयः सुलसस्तत्र, पतति स्म महीतले ।
आमिषग्रहणार्थं ते, परितोऽस्य डुढौकिरे ॥१८३॥
जिनशेखरदेवोऽथ, तं विज्ञाय तथास्थितम् ।
शीघ्रं समाययौ तत्र, नष्टा भूतादयोऽथ ते ॥१८४॥
देवः प्रोवाच भो श्राद्ध!, वन्दे त्वां मित्र! किं त्वया ।
जिनशासनदक्षेण, कर्म प्रारब्धमीदृशम्? ॥१८५॥
एषोऽहं भवतो मित्रं, जिनशेखरनामकः ।
कृता निर्यामणा यस्य, कूपमध्ये तदा त्वया ॥१८६॥
तवाऽऽराधनया भद्र!, सहस्रारे सुरोऽभवम् ।
इन्द्रसामानिकस्तेन, त्वं गुरुः सर्वथा मम ॥१८७॥

तं दृष्ट्वा सुलसोऽप्याशु, वन्दे त्वामहमप्यहो! ।
इति जल्पन् समुत्तस्थौ, पप्रच्छ स्वागतं च तम् ॥१८८॥
देवोऽवादीदहो! मित्र!, किमभीष्टं करोमि ते? ।
सोऽवादीत् प्रियमेवेदं, जातं यद् दर्शनं तव ॥१८९॥
तथाऽप्येवं समाख्याहि, किं मेऽद्याप्यन्तरायकम् ।
विद्यते निबिडं कर्म?, येन गृह्णाम्यहं व्रतम् ॥१९०॥
देवः प्रोवाच तत्कर्म, क्षीणप्रायं तवास्ति भोः! ।
अस्ति भोगफलं चापि, नार्हस्यद्यापि तद् व्रतम् ॥१९१॥
ततो महाऽर्घ्यमाणिक्यसुवर्णधनराशयः ।
सुरेण ढौकितास्तस्य, चारुवस्त्रादिकं तथा ॥१९२॥
सुलसः स्माऽऽह मां देव!, महासार्थसमन्वितम् ।
पराणय निजं स्थानं, प्रसिद्धिर्येन मे भवेत् ॥१९३॥
देवोऽपि हि तथा कृत्वा, जगाम स्थानमात्मनः ।
सुलसाऽऽगमनं तत्र, जानाति स्म नरेश्वरः ॥१९४॥
पुरप्रवेशं चक्रे च, तस्याभिगतिपूर्वकम् ।
उचितज्ञः सुलसोऽपि, भूपस्योपकृतिं व्यधात् ॥१९५॥
गृहं गतोऽथ सुलसः, पूजितः प्रियया तया ।
प्रावर्ति च गृहे वर्धापनकं सुकुलीनया ॥१९६॥
वेश्या कामपताका, सा वेणीबन्धसितांशुकैः ।
शोभिता ददृशे तेन, सुभद्रायाः समीपगा ॥१९७॥
बभूव गेहिनी साऽपि, सुलसस्यानुरागिणी ।
स एवं बुभुजे भोगाँस्ताभ्यां सह विरागतः ॥१९८॥
सोऽन्यदा चिन्तयामास, जीव! रे लोभलम्पट! ।
किं किं ते नाभवद् दुःखं, परिग्रहमितिं विना ॥१९९॥

मनसैव व्यधात् सोऽथ, परिमाणं परिग्रहं ।
शेषं धर्मव्यये द्रव्यं, ददौ देवगृहादिषु ।।२००।।
कियत्यथो गते काले, क्षीणं तदपि तद्धनम् ।
सरोजलमिव ग्रीष्मे, पुरा विहितकर्मणा ।।२०१।।
ततः श्याममुखः किञ्चित्, स यावत् सुलसोऽभवत् ।
तावत् सोऽवधिना ज्ञात्वा, निर्जरः पुनराययौ ।।२०२।।
ऊचे च दुर्मनाः किं त्वं, दृश्यसे श्राद्धपुङ्गव! ।
मयि मित्रेऽनुकुले ते का, चिन्ता विभवस्य भोः!? ।।२०३।।
इत्युदित्वा सुवर्णानां, राशींस्तस्य [1]गृहाजिरे ।
स सद्यः प्रकटीचक्रे, तुष्टो धनदवत् क्षणात् ।।२०४।।
जजल्प सुलसो द्रव्यमेतावत् सम्मतं न मे ।
यतोऽस्ति विहितं मानं, मया मित्र! परिग्रहे ।।२०५।।
देवोऽप्युवाच भो श्राद्ध!, साध्विदं विहितं त्वया ।
अस्मिंश्च विषये येन, पठ्यतेऽदस्तपोधनैः ।।२०६।।
यथा यथाऽल्पो लोभः, स्यादल्पाऽऽरम्भपरिग्रहौ ।
तथा तथा सुखं नृणां, धर्मसिद्धिश्च जायते ।।२०७।।
ततश्च तदभिप्रेतं, दत्त्वा तस्य धनं सुरः ।
तमापृच्छय च स्वस्थानं, पुर्नरेव जगाम सः ।।२०८।।
सुलसः सोऽन्यदोद्यानं, गतः क्वापि निधानकम् ।
ददर्श न तु जग्राह, व्रतभङ्गभयात् किल ।।२०९।।
निरीक्ष्यमाणस्तद् दृष्ट्या, स दृष्टो राजपूरुषैः ।
गते तस्मिंश्च तत्रेदमेतैरपि विलोकितम् ।।२१०।।
नूनमस्मान् विलोक्येदं, निधानं नाग्रहीदसौ ।
इति दूरस्थितैरेभिर्वीक्षितः सप्त वासरान् ।।२११।।

1. गृहाङ्गणे ।

ततश्च सुलसे तस्मिन्, दिश्यप्यस्यामगच्छति ।
कथितं तन्महीभर्तुश्चेष्टितं तैः सविस्मयैः ॥२१२॥
आकार्य भूभुजाऽभाणि, सुलसोऽथ ससम्भ्रमम् ।
दृष्ट्वाऽपि किं त्वया भद्र!, निधानं जगृहे न तत् ॥२१३॥
परिग्रहप्रमाणस्य, वृत्तान्तेऽथ निवेदिते ।
अनिच्छन्नपि राज्ञाऽसौ, भाण्डागारे नियोजितः ॥२१४॥
आगादमरचन्द्राऽऽख्यसूरिस्तत्र पुरेऽन्यदा ।
नरेणैकेन सुलसस्याऽऽख्याताऽथ तदागतिः ॥२१५॥
तेन चाख्यायि भूपस्य, ततस्तौ सपरिच्छदौ ।
गत्वा नत्वा च तं सूरिं, यथास्थानं निषेदतुः ॥२१६॥
ततश्च गुरुणा तेन, प्रतिबोधविधायिनी ।
देशना विदधे भव्यमनोवाञ्छितदायिनी ॥२१७॥
अत्रान्तरे स सुलसः, पप्रच्छ भगवन्! कथम् ।
लब्ध्वा लब्ध्वाऽपि [1]कृच्छ्रान्मे, [2]कमला प्रलयं गता? ॥२१८॥
प्रोचे शुभगुरुः सोऽथ, चतुर्ज्ञानविभूषितः ।
प्राप्ता प्राप्ताऽपि यत् ते, श्रीर्ययौ तत् श्रृणु कारणम्॥२१९॥
त्वं हि ताम्राकरग्रामे, तारचन्द्रोऽभिधानतः ।
आसीः कौटुम्बिकः पूर्वं, दानश्रद्धापरायणः ॥२२०॥
याचकश्रमणादिभ्यो, ददद् दानमसौ क्रमात् ।
बभूव श्रावकः किन्तु, मनस्येवमचिन्तयत् ॥२२१॥
हा! मया प्रचुरं दत्तं, न दानसमयोऽधुना ।
अतः परं न दास्यामि, दत्तेनापि गुणोऽत्र कः? ॥२२२॥
वरं हि बन्दिनां दानं, गोत्रख्यातिविधायकम् ।
दत्तेन किमु साधूनां?, ये प्रशंसां न कुर्वते ॥२२३॥

1. दुःखात् । 2. लक्ष्मीः ।

भावैर्मनोगतैरेवं, तारचन्द्रोऽन्तरान्तरा ।
बबन्ध निर्विवेकत्वाद्, दृढं कर्मान्तरायकम् ॥२२४॥
दृष्ट्वा साधून् पुनर्दानश्रद्धा तस्याभवद् वरा ।
एवं चानेकधा दत्तं, खण्डितं तच्च दुर्धिया ॥२२५॥
सोऽन्ते समाधिना मृत्वा, सौधर्मे त्रिदशोऽभवत् ।
ततश्च्युत्वा समुत्पन्नः, सौम्य! त्वं श्रेष्ठिनन्दनः ॥२२६॥
तद्भो! दानं मनःशुद्ध्या, दातव्यं सुविवेकिभिः ।
अन्यदप्यखिलं धर्मकृत्यं स्यात् सफलं तया ॥२२७॥
प्रतिबुद्धोऽथ सुलसो, जजल्पैवं नृपं प्रति ।
ग्रहीष्यामि परिव्रज्यां, नृनाथ! विसृजाद्य माम् ॥२२८॥
उवाच राजाऽहमपि, प्रतिबुद्धोऽस्मि सुन्दर! ।
निवेश्य तनयं राज्ये, प्रव्रजिष्यामि निश्चितम् ॥२२९॥
गुरुं नत्वा गृहे गत्वा, कृत्वा पुत्रं च पार्थिवम् ।
तौ राज-सुलसौ धन्यौ, दीक्षामाददतुस्ततः ॥२३०॥
चक्रतुस्तौ तपोऽत्युग्रं, संवेगपरिभावितौ ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं, सुलसस्तु ययौ शिवम् ॥२३१॥

महारंभयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाहारेणं ।
पंचिंदिय वहेणं जीवा नरयाउयं अज्जंति ॥
असन्तोषवतां पुंसामपमानः पदे पदे ।
सन्तोषैश्वर्य सुखिनां दूरे दुजर्नभूमयः ॥
दोषशतमूलजालं पूर्वर्षि विवर्जितं यदिवान्तम् ।
अर्थं वहसि अनर्थं कस्मान्निरर्थं तपश्चरसि ॥
तृष्णा खनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते ।
या महद्भिरपि क्षिप्तैः पूरणैरेव खन्यते ॥

दिग्व्रतविषये स्वयम्भूदेवकथा ।

(७)

अणुव्रतानि पञ्चापि, कथितानीति ते मया ।
इतो गुणव्रतानि त्वमाकर्णय महीपते! ॥१॥
प्रथमं दिग्व्रतं भोगोपभोगव्रतमेव च ।
अनर्थदण्डश्चेति स्यात्, त्रिविधं तद् गुणव्रतम् ॥२॥
यत् पूर्वादिषु काष्ठासु[1], तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
क्रियते परिमाणं तत्, स्याद् गुणव्रतमादिमम् ॥३॥
प्राप्नोत्यनेकदुःखानि, जीवोऽस्मिन्नकृतावधिः ।
यथा स्वयम्भूदेवाऽऽख्यः, सम्प्राप्तो म्लेच्छनीवृतम्[2] ॥४॥
अस्त्यनेककृताऽऽवाससङ्कटं श्रीवशङ्कटम् ।
पुरं गङ्गातटं नाम, [3]विपक्षाणां महोत्कटम् ॥५॥
तत्रापसर्पद्दूतौघैः, प्रतिराष्ट्रं नियोजितैः ।
ज्ञातसर्वनृपोदन्तः, सुदन्तः पार्थिवोऽभवत् ॥६॥
तत्र स्वयम्भूदेवाऽऽख्यो, वसति स्म कुटुम्बिकः ।
कृष्यादिकर्मनिरतः, संतोषपरिवर्जितः ॥७॥
निद्राविरामे सोऽन्येद्यू, रात्रावेवमचिन्तयत् ।
इह स्थितस्य मे लाभो, न मनोवाञ्छितो भवेत् ॥८॥
ततो देशान्तरे क्वापि, गत्वा लक्ष्मीमुपार्ज्य च ।
सर्वथा पूरयिष्यामि, सर्वान् निजमनोरथान् ॥९॥
ततो विधाय सामग्रीं, स चचालोत्तरापथम् ।
ययौ च [4]शनकैर्लक्ष्मीशीर्षके नगरे वरे ॥१०॥

1. दिशासु । 2. म्लेच्छदेशम् । 3. शत्रूणाम् । 4. शनैः-शनैः ।

प्रविश्याभ्यन्तरे तत्र, व्यवहारं प्रकुर्वतः ।
तादृग्लाभो भवेत् तस्य, यादृक् सृष्टः स्वकर्मणा ॥११॥
अन्यदाऽन्यत्र नगरे, स बभ्राम धनाऽऽशया ।
जानाति स्म वराको, न लोकरूढमिदं वचः ॥१२॥
"श्रूयमाणाः शुभा देशा, राजानः सेवितास्तथा ।
सर्वं दूरस्थितं वस्तु, स्यात् प्रायो विस्मयावहम्" ॥१३॥
प्राप्तेन नगरे क्वापि, वणिजः केऽपि वीक्षिताः ।
पृष्टास्तेन च भो यूयं, कुतो देशात् समागताः? ॥१४॥
तेऽप्यवोचन् वणिज्येन, चिलातविषये[1] वयम् ।
गत्वोपार्ज्य बहु धनं, पुनरत्र समागताः ॥१५॥
ततः क्रयाणकं किञ्चिद्, गृहीत्वा शम्बलादिकम् ।
सहितो बहुसार्थेन, तं देशं प्रति सोऽचलत् ॥१६॥
सम्प्राप्तश्च महातप्तवालुकाऽभिधवर्त्मनि ।
गच्छति स्म तमुल्लङ्घ्य हिममार्गेऽतिशीतले ॥१७॥
ततश्च गिरिमार्गेऽसावत्यन्तविषमे ययौ ।
लोभाभिभूतः पुरुषः, किं किं तन्न करोति यत्? ॥१८॥
यावाच्चिलातदेशस्य, समीपे गतवानसौ ।
विरोधो म्लेच्छभूपे, स्यादन्यभूपैः समं तदा ॥१९॥
चिलातदेशं यातीति, स सार्थः शिष्टराजभिः ।
सर्वसारमुपादाय, वालितः स्वगृहान् प्रति ॥२०॥
स्वयम्भूदेवस्तद्दृष्टिं, वञ्चयित्वा कथञ्चन ।
गतस्तत्र गृहीतश्च, भिल्लानां डिम्भरूपकैः ॥२१॥
हस्तयोः पादयोर्बद्धा, रुधिरेण विलिप्य च ।
मुच्यते स्माटवीमध्ये, स तैर्नीत्वा दुरात्मभिः ॥२२॥

1. विषये देशे ।

निपेतुर्मृतकभ्रान्त्या, तत्र गृध्रा अनेकशः ।
तीक्ष्णचञ्चुप्रहारौघैस्ताडयन्ति स्म तं च ते ॥२३॥
हत्वा बाणैरथो गृध्रान्, सायं ते भिल्लनन्दनाः ।
[1]स्वयम्भूमानयन्ति स्म, गेहे विगतबन्धनम् ॥२४॥
भोजयित्वा च यत्नेन, धारयन्ति स्म मन्दिरे ।
एवं दिने दिने दुःखं, दर्शयामासुरस्य ते ॥२५॥
अन्यस्मिन् दिवसे यावत्, तथा कृत्वा धृतोऽस्ति सः ।
तावत् तत्राऽऽययौ व्याघ्री, नष्टास्ते भिल्लबालकाः ॥२६॥
व्याघ्र्या चोत्पाट्य नीतोऽसौ स्वापत्यार्थं वनान्तरे ।
तुत्रोट दंष्ट्रया चास्याः, कराङ्घ्र्योस्तस्य[2] बन्धनम् ॥२७॥
विमुच्य तमथो व्याघ्री, बालान्वेषणहेतवे ।
ययौ वनान्तरे नंष्ट्वा, स्वयम्भूरपि सत्वरम्[3] ॥२८॥
नद्यां प्रक्षालयित्वाऽङ्गं, समं सार्थेन केनचित् ।
दिनैः कतिपयैरागात्, स्वगेहमिति चिन्तयन् ॥२९॥
प्रभूतधनलोभेन भ्रान्तोऽसि किल भूतले ।
भोजनस्यापि सन्देहो, बभूव तव जीव! रे! ॥३०॥
जीवन् गेहे यदागास्त्वं, तल्लाभमवबुध्यताम् ।
मूत्ररोधे तु सञ्जाते, किं सौभाग्येन देहिनाम्? ॥३१॥
विरक्तः सोऽथ श्रामण्यं, जग्राह मुनिसन्निधौ ।
विशुद्धं पालयित्वा, तन्मृत्वाऽथ त्रिदिवं ययौ ॥३२॥

1. स्वयम्भूदेवम् । 2. स्वयम्भुवो हस्त-पादयोर्बन्धनमित्यर्थः 3. ययावेति क्रियायाः सम्बन्धः ।

उपभोग–परिभोगविषये जितशत्रुनृप–सुनन्दाब्राह्मणीकथा ।

(८)

भोगोपभोगयोर्माने, द्वितीयं स्याद् गुणव्रतम् ।
भोजने कर्मतश्चेति, तद् द्विधा परिकीर्त्तितम् ॥१॥
भोजनेऽनन्तकायादि, न भोक्तव्यं विवेकिना ।
कर्मतः खरकर्माणि, सर्वाण्यपि विवर्जयेत् ॥२॥
सचित्तं तेन संमिश्रं, दुःपक्वापक्वमेव च ।
तुच्छौषधिश्च पञ्चातिचारा भोजनतस्त्विमे ॥३॥
कर्मतश्च पञ्चदशातिचारा आगमोदिताः ।
ज्ञेया अङ्गारकर्माद्याश्चक्रायुध! नृप! त्वया ॥४॥
उपभोगेऽत्र दृष्टान्तो, जितशत्रुर्महीपतिः ।
विज्ञेयः परिभोगे च, ब्राह्मणी नित्यमण्डिता ॥५॥
इहैव भरतक्षेत्रे, वसन्तपुरपत्तने ।
जितशत्रुरिति ख्यातो, बभूव पृथिवीपतिः ॥६॥
सुबुद्धिर्नाम तन्मन्त्री, बुद्धिनिर्जितवाक्पतिः ।
अत्यन्तवल्लभस्तस्य, बभूव पृथिवीपतेः ॥७॥
विपरीततुरङ्गाभ्यामन्येद्युरपहृत्य तौ ।
नीतौ निर्मानुषाटव्यां, भ्रान्तौ चात्र दिनत्रयम् ॥८॥
तत्पृष्ठलग्नसैन्येन, तौ लब्धौ राज–मन्त्रिणौ ।
पुर्ननगरमानीतौ, चतुर्थेऽह्नि बुभुक्षितौ ॥९॥
ततः क्षुधाऽऽतुरो राजा, सूपकारैरकारयत् ।
जघन्य–मध्यमोत्कृष्टां, सर्वां रसवतीं क्षणात् ॥१०॥
नटप्रेक्षणदृष्टान्तं, भावयन् निजमानसे ।
आदौ जघन्यमाहारं, बुभुजे स महीपतिः ॥११॥
ततश्च मध्यमोत्कृष्टमाकण्ठं भुक्तवानसौ ।

तथा यथोदरे तस्य, नोद्गारस्थानमप्यभूत् ॥१२॥
राज्ञो विसूचिका तस्याऽऽहारेणाऽजीर्यता[1]ऽभवत् ।
मृत्वा तत्पीडया चासौ, व्यन्तरः समजायत ॥१३॥
उपभोगानिवृत्तानामयं दोषो निवेदितः ।
परिभोगानिवृत्तौ तु, दोषः सम्प्रति कथ्यते ॥१४॥
इहाऽऽसीद् वर्धनग्रामे, वेदाभ्यासरतोऽनिशम् ।
अग्निदेवाभिधो विप्रः, सुनन्दा तस्य गेहिनी ॥१५॥
[2]गौरव्यो ग्रामलोकस्य:, सोऽत्यन्तं द्विजपुङ्गवः ।
लभमानस्ततो वित्तमीश्वरः समभूत् क्रमात् ॥१६॥
कारितं तेन भार्यायाः, सर्वाङ्गाभरणं वरम् ।
तदङ्गलग्नं सा नित्यं, बभाराभारमानिनी ॥१७॥
पत्याऽथ भणिताऽन्येद्युर्न त्वयेदं विभूषणम् ।
परिधेयं विना पर्व, धार्यं गुप्तं हि सर्वथा ॥१८॥
किञ्चित्प्रत्यन्तवासित्वाद् यदा धाटी पतिष्यति ।
तदाऽनर्थोऽमुना गात्रे, भविष्यति तव प्रिये! ॥१९॥
साऽप्यवोचत यद्येतद् देहे न परिधीयते ।
ततः कार्यं किमेतेन?, तद् धनं यद् विभुज्यते ॥२०॥
समेष्यति यदा धाटी, तदैवाहमिदं क्षणात् ।
अङ्गादुत्तारयिष्यामीत्युक्ते तूष्णीं व्यधाद् द्विजः ॥२१॥
धाटी प्रचण्डभिल्लानां, तत्र ग्रामेऽन्यदाऽपतत् ।
दैवयोगेन सा पूर्वं, विप्रस्यास्याऽऽगमद् गृहे ॥२२॥
पीवरत्वात् तनोस्तस्यास्तदादातुमनीश्वराः ।
हस्तपादादितद्देहच्छेदं चक्रुर्मलिम्लुचाः[3] ॥२३॥
तद्भूषणान्युपादाय, जग्मुस्ते स्थानमात्मनः ।
आर्त्तध्यानवती सा, तु विपद्य नरकं ययौ ॥२४॥

1. अजीर्णेनेत्यर्थः । 2. मान्यः । 3. चौराः ।

अनर्थदण्डविषये समृद्धदत्तकथा ।

(१)

अनर्थदण्डविरतिः, स्यात् तृतीयं गुणव्रतम् ।
भेदास्तस्येह चत्वारो, विज्ञेयाः कीर्तयामि तान् ॥१॥
तत्र स्याद्यदपध्यानं, स भेदः प्रथमस्तथा ।
प्रमादाऽऽचरितं नाम, भवेद् भेदो द्वितीयकः ॥२॥
हिंस्रप्रदानसञ्ज्ञश्च, तृतीयो भेद उच्यते ।
तुर्यः पापोपदेशश्च, भेदोऽनर्थस्य भाषितः ॥३॥
अत्रोदाहरणं राजन्!, शृणु त्वं कीर्तयाम्यहम् ।
अस्तीह धातकीखण्डभरते रैपुरं पुरम् ॥४॥
यथार्थनामा तत्राभूद्, रिपुमर्दनभूपतिः ।
समृद्धदत्तसञ्ज्ञश्च, विख्यातोऽत्र कुटुम्बिकः ॥५॥
सुप्तजागरितोऽन्येद्युः, स एवं पर्यचिन्तयत् ।
यदि मे जायते लक्ष्मीस्ततो राजा भवाम्यहम् ॥६॥
षट्खण्डं भरतक्षेत्रं, साधयिष्याम्यहं ततः ।
वैताढ्यवासिनो विद्यां, दास्यन्ति मम खेचराः ॥७॥
ततो विद्याबलेनाहं, गमिष्यामि [1]विहायसा ।
इत्यावेशात् स शय्याया, उत्पपाताम्बरं प्रति ॥८॥
पपात सहसा पृथ्व्यां, पीडितश्च तनौ दृढम् ।
क्रन्दन्नुत्पाट्य शय्यायां, प्रक्षिप्तो गृहमानुषैः ॥९॥
वेदनोपशमोऽस्याऽभूत् कष्टेन महता ततः ।
जातः स्वस्थशरीरश्च, स स्वगेहमपालयत् ॥१०॥
इतोऽस्य विद्यते खड्गश्चारुलोहविनिर्मितः ।
क्रीतः प्रभूतद्रव्येण विदितो [2]विषयेऽखिले ॥११॥

1. व्योम्ना । 2. देशे

प्रमादाद् विस्मृतोऽन्येद्युः, सोऽसिरस्य गृहाजिरे ।
रात्रौ गृहान्तः सुप्तस्य, स्मृतश्च प्रहरद्वये ॥१२॥
परं प्रमाददोषेण, नाऽऽनीतः स गृहान्तरे ।
को ग्रहीष्यत्यमुमिति, ध्यायन्निद्रामवाऽऽप सः ॥१३॥
अत्रान्तरे कथमपि, प्रविष्टा दुष्टचेष्टिताः ।
रजन्याश्चरमे यामे, तस्करास्तस्य मन्दिरे ॥१४॥
तं गृहीत्वा ययुस्तेऽथ, तद्बलेन दुराशयाः ।
कथञ्चिज्जगृहुर्बन्दौ, नगरश्रेष्ठिनः सुतम् ॥१५॥
राजलोकैर्हताश्चोरा, हतः श्रेष्ठिसुतस्तु तैः ।
खड्गः समृद्धदत्तस्य, ढौकितश्च महीपतेः ॥१६॥
क्रुद्धेन भूभुजाऽऽकार्य, प्रोक्तोऽसौ किमरे! त्वया ।
अकारि पापकर्मेदं, कृपाणोऽयं यतस्तव ॥१७॥
ततश्च कथिता तेन, खड्गविस्मृतिजा कथा ।
तथाऽपि दण्डितो राज्ञाऽनर्थदण्डे कृते सकः ॥१८॥
सोऽन्येद्युरर्पयामास, याचितः सहसा विषम् ।
अपरिज्ञाय कस्यापि, वैरिणः पृथिवीपतेः ॥१९॥
सरोऽन्तस्तेन तत् क्षिप्तं, घातनार्थं धरापतेः ।
पीते तस्मिन् जले केचित्, सम्प्राप्ता [1]निधनं जनाः ॥२०॥
किमेतदिति भूपस्य, जिज्ञासोर्मूलशुद्धिना ।
केनचित् कथिता पुंसा, प्रवृत्तिर्विषदानजा ॥२१॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण, स्मरता नीतिमात्मनः ।
पुनः समृद्धदत्तः सोऽन्यायकारीति दण्डितः ॥२२॥
ग्रामपर्षद्युपविष्टो यावदासीत् सकोऽन्यदा ।
तावत् कौटुम्बिकः कश्चित्, तत्राऽऽगाद् वृषयुग्मभृत् ॥२३॥

1. मरणम् ।

समृद्धस्तमथाप्राक्षीदेतौ वत्सतरौ त्वया ।
किं नु भो! दमितौ! नो वा?, नेति प्रोवाच सोऽपि तम् ॥२४॥
पुनः समृद्धोऽवादीद् [1]भोराराघातादिभिस्त्वया ।
दमितव्यौ वृषावेतौ, भूत्वा निर्दयचेतसा ॥२५॥
श्रुत्वा तन्निष्ठुरं वाक्यं, तस्मै चुकुपतुर्वृषौ ।
प्रायेण देहिनां दुःखं, नोच्यमानमपि प्रियम् ॥२६॥
ततस्तेन बलीवर्दावन्येद्युर्वाहितौ तथा ।
बभूव सुकुमारत्वादन्तस्त्रोटो यथा तयोः ॥२७॥
क्षपयित्वाऽऽत्मदुष्कर्माकामनिर्जरया शुभौ ।
व्यन्तरौ समजायेतामनड्वाहौ[2] विपद्य तौ ॥२८॥
ज्ञात्वा समृद्धदत्तं तमात्मनोऽहितकारकम् ।
आगत्य चक्रतुस्तस्य, शरीरे विविधा व्यथाः ॥२९॥
जजल्पतुश्च रे! पापोपदेशो वृषभौ प्रति ।
प्रदत्तो यस्त्वया तस्य, फलं भुङ्क्ष्वाधुनाऽप्यदः ॥३०॥
स्वस्य व्यन्तरतामस्य, कथयामासतुश्च तौ ।
ततस्तौ क्षमयामास, सप्रणाममसावपि ॥३१॥
कोपाऽऽटोपं परित्यज्य, तत्पीडामपहृत्य च ।
स्वस्थानं व्यन्तरावेतौ, जग्मतुः सोऽप्यचिन्तयत् ॥३२॥
रे! जीवानर्थदण्डोऽयं चतुर्धाऽपि कृतस्त्वया ।
प्रत्येकशोऽपि सम्प्राप्तं, दुःखं तज्जनितं तथा ॥३३॥
ततः पार्श्वे मुनीन्द्राणां, भूत्वाऽसौ श्राद्धपुङ्गवः ।
[3]प्रायेण च विपद्यान्ते, कल्पेऽभूत् प्रथमे सुरः ॥३४॥
ततश्च्युत्वा मनुष्यत्वं, सम्प्राप्य सुकुले क्रमात् ।
जीवः समृद्धदत्तस्य, लप्स्यते निर्वृतेः सुखम् ॥३५॥

1. 'आर' इति लोकप्रसिद्धं तोदनगतं लोहकीलकम् । 2. वृषभौ । 3. अनशनेन ।

सामायिकविषये सिंहश्रावककथा ।

(१०)

इतः शिक्षाव्रतानि त्वं, शृणु चत्वारि भूपते! ।
तेषां च मध्ये प्रथमं, भवेत् सामायिकव्रतम् ॥१॥
स्थावरत्रसजीवेषु, यत्र भावो भवेत् समः ।
ज्ञेयं सामायिकं तद् भोः!, कर्तव्यं च पुनः पुनः ॥२॥
कृते सामायिके यस्माच्छ्रावकः साधुवद् भवेत् ।
तदेतन्निर्जरामूलं, विधातव्यमनेकशः ॥३॥
विशुद्धे क्रियमाणेऽस्मिन्, व्रते निश्चलचेतसा ।
जायते भव्यजीवानां, सिंहश्रावकवत् सुखम् ॥४॥
इहाऽऽसीद् भरतक्षेत्रे, रमणीयाभिधे पुरे ।
शूरो हेमाङ्गदो राजा, हेमश्रीस्तस्य वल्लभा ॥५॥
श्रावको जिनदेवाऽऽख्यो, जिनदासीति तत्प्रिया ।
तत्पुत्रः सिंहनामाभूत्, सुश्रावकधुरन्धरः ॥६॥
सामायिकं सुविधिना, गृहीत्वाऽसौ सुनिश्चितः ।
प्रतिक्रमणकं चक्रे, सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥७॥
सोऽन्यदा सह सार्थेन, द्रव्योपार्जनहेतवे ।
क्रयाणकान्युपादाय, ययावुत्तरनीवृतम्[1] ॥८॥
आवासितोऽटवीमध्ये, स सार्थो निम्नगातटे ।
तत्र सामायिकं सिंहो, जग्राह श्रावकाग्रणीः ॥९॥
अत्रान्तरे च बहुशस्तत्राऽऽगान्मशकव्रजः ।
ततश्च तन्निरासार्थं, धूमस्तोमं व्यधाज्जनः ॥१०॥

1. उत्तरदेशम्।

स तु सिंहो महासत्त्वो, मशकानां परीषहम् ।
मेरुवन्निष्प्रकम्पाङ्गः, सहते स्म समाहितः ॥११॥
क्षणाद् दक्षिणवातेन, प्रेरिता मशका ययुः ।
गतोपसर्गः सिंहोऽपि, सामायिकमपारयत् ॥१२॥
जातं मशकदूनं तद्देहं शोफेन दूषितम् ।
कियद्भिर्वासरैस्तच्च, [1]सोल्लाघमभवत् पुनः ॥१३॥
ततः क्रमेण गत्वाऽसौ, वसन्तपुरपत्तने ।
क्रयाणकानि विक्रीय, लाभं सम्प्राप्य चोत्तमम् ॥१४॥
वलित्वाऽऽगान्निजं, गेहं तत्र धर्मपरायणः ।
सप्तक्षेत्र्यां वपन् वित्तं, गृहवासमपालयत् ॥१५॥
संलेखनां विधायान्तेऽनशनेन विपद्य सः ।
दिवं प्राप्तस्ततश्च्युत्वा, क्रमान्मुक्तिं गमिष्यति ॥१६॥

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः ।
मुहूर्त्तं समता या तां, विदुः सामायिकव्रतम् ॥
सामायिकव्रतजुषो गृहिणोऽपि सद्यः ।
क्षीयेत कर्म निचितं सुगतिर्भवेच्च ॥
किं दानेन तपोभिर्वा, यमैश्च नियमैश्च किम् ।
एकैव समता सेव्या, तरिः संसारवारिधौ ॥
दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवन्नस्स खंडियंएगो ।
इयरो पुण'सामाइयं, करेइ स न पहुप्पएतस्स ॥

1. देहं रोग मुक्तं ।

देशावकाशिकविषये गङ्गदत्तकथा ।

(११)

शिक्षाव्रतं द्वितीयं तु, भवेद् देशावकाशिकम् ।
दिग्व्रते परिमाणस्य, संक्षेपकरणादिह ॥१॥
सर्वव्रतानामथवा, संक्षेपोऽत्र विधीयते ।
आनयनप्रयोगाऽऽद्याश्चातिचारा इहोदिताः ॥२॥
एतदपि व्रतं शुद्धं, विहितं सफलं भवेत् ।
इहलोके परलोके, गङ्गदत्तगृहस्थवत् ॥३॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे, पुरे शङ्खपुराभिधे ।
वसति स्म भुवि ख्यातो, गङ्गदत्ताभिधो वणिक् ॥४॥
श्राद्धधर्मोऽन्यदा तेन, गृहीतो गुरुसन्निधौ ।
तं द्वादशविधमथो, पालयामास सोऽन्वहम् ॥५॥
देशावकाशिकं सोऽथान्यदा जग्राह शुद्धधीः ।
न मयाऽद्य विना चैत्यं, निर्गन्तव्यं गृहादिति ॥६॥
गृहस्थितोऽसौ मित्रेण, वणिजाऽऽगत्य जल्पितः ।
यतो बहिः पुरादद्य, सार्थोऽस्ति भ्रातरागतः ॥७॥
तदेहि त्वरितं तत्र, महालाभविधायकम् ।
येनाऽऽवामेव गृह्णीवो, महाऽर्घ्यं [1]पणितं बहु ॥८॥
गङ्गदत्तोऽब्रवीत् तत्र, नैष्याम्यद्य यतो मया ।
गृहीतमस्ति देशावकाशिकं स्वगृहस्थिति ॥९॥
प्रत्यूचेऽसौ बहुधनलाभं गृह्णासि नाद्य किम्? ।
अन्यस्मिन्नपि दिवसे, करिष्यसि पुनर्व्रतम् ॥१०॥

1. क्रेयवस्तु ।

पुनर्गङ्गोऽवदद् यत्र, धर्महानिर्भवेत् सखे! ।
लाभेनापि कृतं तेन, बह्वारम्भविधायिना ॥११॥
ज्ञात्वा विनिश्चयं तस्य, वयस्यः स गृहं गतः ।
प्रययौ गङ्गदत्तश्च, सार्थमध्ये परेद्यवि ॥१२॥
दृष्टं क्रयाणकं तेन, दैवादक्षतमेव तत् ।
विक्रीतं च तदादाय, महालाभो बभूव च ॥१३॥
सोऽथ दध्यौ प्रभावोऽयं, धर्मस्यैव ततो मया ।
विनियोज्यमिदं वित्तं, ध्रुवं देवगृहादिषु ॥१४॥
विचिन्त्यैवमथो तेन, जिनपूजाः प्रवर्तिताः ।
सकलस्यापि सङ्घस्य, दत्तं दानं च भक्तितः ॥१५॥
एवं धर्मोद्यमं कृत्वा, मृत्वाऽन्तेऽनशनादिना ।
स बभूवामरः पश्चात्, क्रमयोगेन सेत्स्यति ॥१६॥

साधूनां कल्पनीयं यद् नापि कस्मिंश्चित् किञ्चित् तस्मिन् ।
धीरा यथोक्तकारिणः सुश्रावकास्तन्न भुञ्जते ॥
वसतिशयनासेनभक्तपानभैषजवस्त्रपात्रादि ।
यद्यपि न पर्याप्तधनः स्तोकादपि स्तोकं दद्यात् ॥
अन्नादीनामिदं दानमुक्तं धर्मोपकारिणाम् ।
धर्मोपकारबाह्यानां स्वर्णादीनां च न तन्मतम् ॥
दत्तेन येन दीप्यन्ते, क्रोधलोभस्मरादयः ।
न तत्स्वर्णं चारित्रिभ्यो, दद्याच्चारित्रनाशनम् ।
पयपानं भुजङ्गानां, यथा विषविवृद्धये ।
कुपात्रापात्रयोर्दानं, तद्वद्भवविवृद्धये ॥

पौषधव्रतविषये जिनचन्द्रकथा ।

(१२)

देशावकाशिकमिदं, सदृष्टान्तं निवेदितम् ।
कथयामि तवेदानीममलं पौषधव्रतम् ॥१॥
क्रियते यच्चतुष्पर्व्यां, धर्मे पोषं दधाति यः ।
स भवेत् पौषधो राजँश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥२॥
आहारपौषधो द्वेधा, सर्वतो देशतस्तथा ।
आद्यश्चतुर्विधाऽऽहारप्रत्याख्याने प्रजायते ॥३॥
त्रिधाऽऽहारोपवासे वाऽऽचामाम्लादितपस्सु वा ।
प्रत्याख्याने समस्तेऽपि, देशतः पौषधो भवेत्[1] ॥४॥
द्वितीयो देहसत्काराभिधो भेदोऽत्र कीर्तितः ।
सर्वशारीरसत्कारवर्जनात् सर्वतो भवेत् ॥५॥
विज्ञातव्यो देशतश्च, सोऽस्नानकरणादिकः ।
तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य, पौषधो द्विविधश्च सः ॥६॥
सर्वतः सर्वथा स्त्रीणां, करस्पर्शादिवर्जनम् ।
देशतश्च पुनस्तासां, सम्भोगस्यैव वर्जनम् ॥७॥
अव्यापारश्चतुर्थः स्यात्, पौषधः स च सर्वतः ।
सर्वव्यापारहानिः *स्यादेक[2]त्यागे तु देशतः ॥८॥
दृष्टान्तो जिनचन्द्रस्य, कथ्यते पौषधव्रते ।
अनन्तवीर्यो राजाऽभूत्, सुप्रतिष्ठाभिधे पुरे ॥९॥
श्रावको जिनचन्द्रश्च, जिनधर्मे सुनिश्चलः ।
बभूव गेहिनी तस्य, सुन्दरी सुन्दराऽऽकृतिः ॥१०॥

1. वर्तमान में आहार पौषध ही देश से सर्व से होता है शेष तीनों सर्व से ही होते हैं। * 'हाने' इति 'क' पाठः । 2. वस्त्रधान्यसुवर्णरूप्यमणिप्रभृतीनां मध्ये अन्यतमस्यैकस्यानेकस्य व्यापारस्य त्यागे ।

जगृहे पौषधं तेन, क्वापि पर्वदिनेऽन्यदा ।
मध्ये पौषधशालायाः, प्रविश्य शुभचेतसा ॥११॥
अत्रान्तरे [1]सहस्राक्षः, प्राशंसत् तं सभाऽन्तरे ।
सुरैरपि न चाल्योऽयं, वर्तते पौषधादिति ॥१२॥
तदाकर्ण्यैक[2]गीर्वाणः, कर्तुं तद्वाक्यमन्यथा ।
[3]तत्समीपमुपागत्याकाले सूर्योदयं व्यधात् ॥१३॥
कृत्वा तद्भगिनीरूपमूचे भ्रातः! कृते तव ।
आनीतमस्त्यदो भक्ष्यं, तत् त्वं पारणकं कुरु ॥१४॥
अनुष्ठानादिकरणेऽनुमानेन विवेद सः ।
कृता देवेन केनापि, मायेयं परिभाव्यते ॥१५॥
एवं विचिन्त्य मनसा, सोऽस्थान्मौनपरायणः ।
मित्ररूपी सुरः सोऽस्य, विलेपनमढौकयत् ॥१६॥
पुष्पाणि च सुगन्धीनि, गृहाणेत्य[4]मुनोदितः ।
न किञ्चिदपि जग्राह, श्राद्धोऽसौ नाप्यभाषत ॥१७॥
पुंसैकेन नीयमानां, ततोऽसौ तस्य गेहिनीम् ।
त्रिदशो दर्शयामास, तथाऽप्येष चुकोप न ॥१८॥
अनुकूलोपसर्गांस्तान्, सुरः कृत्वैवमादिकान् ।
ततः सिंहपिशाचादीन्, प्रतिकूलान् व्यधात् ततः ॥१९॥
न चुक्षोभ तथाऽप्येष, दिव्यरूपोऽथ सोऽमरः ।
शंसन् शक्रप्रशंसां तां, किं करोमीत्यभाषत ॥२०॥
निरीहश्रावकस्तस्मान्न किञ्चिदप्याचत ।
देवोऽवादीन्न मोघं च, जायते मम दर्शनम् ॥२१॥
जिनचन्द्रोऽवदत् तर्हि, सुरश्रेष्ठ! तथा कुरु ।
यथाऽत्र जायते लोके, शासनस्य प्रभावना ॥२२॥

1. इन्द्रः । 2. देवः । 3. जिनचन्द्रपार्श्वे । 4. देवेनोक्तः ।

प्रतिपद्याथ तद्वाक्यं स देवो जिनमन्दिरे ।
परिवारयुतो गत्वा व्यधादष्टाह्निकोत्सवम् ॥२३॥
सुगन्धकुसुमैः पूजां, विधाय च जिनेशितुः ।
ऊर्ध्वीकृतभुजद्वन्द्वो, नृत्यं चक्रे पुरोऽस्य[1] सः ॥२४॥
नृत्यन्तं त्रिदशं दृष्ट्वा, जनः सर्वो विसिष्मिये ।
जजल्प चाहो! माहात्म्यं, जिनधर्मस्य भूतले ॥२५॥
देवोऽप्युवाच कल्पद्रुचिन्तामणिसमप्रभः ।
जना! जिनेन्द्रधर्मोऽयं, ध्रुवं स्वर्गापवर्गदः ॥२६॥
तदत्र सर्वथा यत्नो, विधातव्यः सुखैषिभिः ।
लोकोऽपि हि तथा चक्रे, *तद्भक्तिं प्रीतमानसः ॥२७॥
एवं जिनेन्द्रधर्मस्य, सुरः कृत्वा प्रभावनाम् ।
आपृच्छ्य जिनचन्द्रं च, सौधर्ममगमत् पुनः ॥२८॥
स एष जिनचन्द्रस्ते, कथितः पौषधव्रते ।
नाचाल्यत मनो यस्य, धर्मध्यानात् सुरैरपि ॥२९॥

पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
न ते तरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति, न मूकतां चैव जडस्वभावम् ।
न चान्धतां बुद्धिविहीनतां च, ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम् ॥
लेखयन्ति नरा धन्या, ये जिनागमपुस्तकम् ।
ते सर्वं वाङ्मयं ज्ञात्वा, सिद्धिं यान्ति न संशयः ॥
संप्राप्तदर्शनादिः प्रतिदिवसं यतिजनात् शृणोति च ।
सामाचारीं परमां यः, खलु तं श्रावकं ब्रुवते ॥

1. जिनबिम्बस्याभिमुखम् । * 'तद्भक्तिप्रीत' इति 'के' पाठः ।

अतिथिसंविभागव्रतविषये शूरपालकथा ।

(१३)

अतिथीनां संविभागो, विज्ञेयं द्वादशं व्रतम् ।
तिथिपर्वोत्सवगणस्त्यक्तो येनेह सोऽतिथिः ॥१॥
न्यायाऽऽगतैः कल्पनीयैः सुद्रव्यैरोदनादिभिः ।
देशकालोचितैः श्रद्धासत्कारविधिपूर्वकम् ॥२॥
संविभागोऽनगाराणां[1], भक्त्या धर्मधियाऽत्र यत् ।
भवेदतिथिदानं तन्महापुण्यनिबन्धनम् ॥ युग्मम् ॥३॥
अतिथीनां दानमेतत्, सुखहेतुः प्रजायते ।
शूरपालनरेन्द्रस्य, दत्तं पूर्वभवे यथा ॥४॥
अस्तीह भरते रम्यं, श्रीकाञ्चनपुरं पुरम् ।
ऋद्ध्याऽमरपुरप्रख्यं, विख्यातमवनीतले ॥५॥
जितारिर्नाम भूपालो, मरालोज्ज्वलसद्यशाः ।
बभूव विक्रमी तत्र, तस्य राज्ञी सुलोचना ॥६॥
महीपालोऽभिधानेन, क्षत्रजातिः कृषिवलः ।
अवात्सीन्नगरे तत्र, भार्या तस्य च धारिणी ॥७॥
समजायन्त धरणीधरः कीर्तिधरस्तथा ।
पृथ्वीपालः शूरपाल, इति पुत्रास्तयोः क्रमात् ॥८॥
चन्द्रमती कीर्तिमती, शान्तिशीलमतीद्वयम् ।
इत्यभूवन् प्रियास्तेषां, चतस्रः क्रमयोगतः ॥९॥
महीपालसुतास्तेऽथ, वर्षाकालेऽन्यदा ययुः ।
कर्म कर्तुं निजक्षेत्रे, समुत्थाय [2]निशाऽत्यये ॥१०॥

1. साधूनाम् । 2. रात्रिविरामे प्रातःकाले ।

पश्चात् तेषां प्रियास्तत्र, यावत् प्रचलितास्तदा ।
अतनिष्ट [1]घनो वृष्टिं, विद्युद्गर्जारवोत्तरः ॥११॥
[2]प्रत्यासन्नवटेऽथैतास्तत्पयो [3]वञ्चितुं गताः ।
तस्यैकदेशमाश्रित्य, तस्थुश्च निरुपद्रवाः ॥१२॥
तत्पृष्ठे श्वसुरस्तासामागात् सोऽपि भयादपाम्[4] ।
द्वितीयं देशमाश्रित्य, तस्थौ तस्यैव शाखिनः ॥१३॥
अजानन्त्यो महीपालमेकान्तत्वादशङ्किताः ।
स्वेच्छाऽऽलापममुं चक्रुश्चन्द्रमत्यादयोऽथ ताः ॥१४॥
शुश्राव श्वशुरोऽप्यासामालापं निभृतस्थितः ।
ऊचेऽथ चन्द्रमत्येवं, ब्रूत स्वरुचितं [5]हलाः! ॥१५॥
शीलमत्यवदत् कर्णा, [6]वृतेरपि भवन्ति यत् ।
[7]स्वभावकथनं तन्न, युक्तमत्रेति मे मतम् ॥१६॥
इतरा स्माऽऽह मा भैस्त्वं, यतो नास्त्यत्र कश्चन ।
सोचे तर्हि क्रमेणोच्या, सर्वाभिः [8]स्वस्वकामना ॥१७॥
चन्द्रमत्यवदत् तावत्, सद्यः सिद्धं घृतान्वितम् ।
मम क्षिप्रचटं (टीं) भोक्तुं, समीहा वर्तते हलाः! ॥१८॥
यद्वा पर्युषितां रब्बां, युक्तां दध्ना घृतेन वा ।
संसक्ताऽऽम्रफलकच्चूरककच्चरिकाऽन्विताम् ॥१९॥
अवोचत् कीर्तिमत्येवं, लभ्यते चेन्मनःप्रियम् ।
ततः खण्डघृतयुता, [9]क्षैरेयी रोचते मम ॥२०॥
सघृतौ शालिसूपौ वा, तीक्ष्णाम्लव्यञ्जनानि च ।
ऊचे शान्तिमती वाञ्छा, मदीया श्रूयतामितः ॥२१॥

1. मेघः । 2. निकटवटवृक्षे । 3. वृष्टिजलादात्मानं रक्षितुमित्यर्थः । 4. जलानाम् । 5. सख्यः! । 6. 'वाड' इति गूर्जरमरूभाषायां प्रसिद्धायाः । 7. स्वस्य भावो विचारः । 8. कामना-अभिलाषः । 9. पायसम् ।

सुस्वादमोदकादीनि, पक्वान्नानि प्रियाणि मे ।
मण्डिकेड्डुरिकादीनि, भक्ष्याणि च विशेषतः ॥२२॥
शीलवत्यब्रवीन्नान्नं, स्पृहयालुरहं यतः ।
याचते जठरं पूरं, न कूरमिति लोकगीः ॥२३॥
जानाम्यदो यदि स्नाता, विलिप्ता कुङ्कुमादिभिः ।
परिधाय सुवस्त्राणि, भूषणैर्भूषिता सती ॥२४॥
श्वशुरज्येष्ठभर्तॄणां, प्रयच्छामि सुभोजनम् ।
गृहलोकाय सर्वस्मै, दीनादिभ्यो ददामि च ॥२५॥
शेषं कदशनं किञ्चिद्भोजनं प्रकरोमि चेत् ।
ततो मे मनसो नित्यं, निर्वृतिः सम्प्रजायते ॥२६॥
एवं स्वकीयाभिप्राये शीलमत्या निवेदिते ।
जजल्पुरन्याः स्वेच्छेयं, घटमाना न तावकी ॥२७॥
कौटुम्बिकानां गेहे [1]यदशनाद्यपि दुर्लभम् ।
सुवस्त्राऽऽभरणादीना[2], मुत्सर्गस्य च का कथा ॥२८॥
तासामेवं वदन्तीनां, वृष्टिर्विरमति स्म सा ।
ततस्ताः प्रययुः क्षेत्रे, महीपालोऽप्यचिन्तयत् ॥२९॥
पश्याहो! भोजनस्यार्थे, ताम्यन्त्येवं मम [3]स्नुषाः ।
नूनं [4]भक्तमपि श्वश्रूर्नैतासां सम्प्रयच्छति ॥३०॥
ततो गत्वा गृहेऽद्याहं, तर्जयित्वा स्वगेहिनीम् ।
एतासां पूरयिष्यामि, तिसृणामपि चिन्तितम् ॥३१॥
असमञ्जसभाषिण्यास्तूर्यवध्वाः[5] परं मया ।
पूरणीया [6]कदशनाऽऽहारवाञ्छैव केवलम् ॥३२॥
गेहे गत्वा ततस्तेन, कथयित्वा वधूकथाम् ।
प्रोक्ता भार्येप्सिताऽऽहारो, वधूभ्यो देय इत्यलम् ॥३३॥

1. भोजनादि । 2. दानस्य । 3. पुत्रवध्वः । 4. भोजनम् । 5. शीलव्रत्याः । 6. कुत्सितभोजनेच्छा।

इत्यादिश्य महीपालोऽप्यगात् क्षेत्रे ततश्च तत् ।
सर्वं भोजनवेलायां, गृहमागात् कुटुम्बकम् ॥३४॥
भर्तारं भोजयित्वाऽथ, तनयानपि धारिणी ।
पत्यादिष्टरसवत्या[1], भोजयामास ताः स्नुषाः ॥३५॥
अन्योऽन्यं वीक्ष्य वक्त्राणि, चिन्तयन्ति स्म ता इति ।
केनापि कारणेनाद्य, जातं नो [2]मन्त्रिताशनम् ॥३६॥
एकस्थाननिविष्टायाः, किमेतस्याः कुभोजनम् ।
दत्तमित्यादि तास्तिस्रश्चिन्तयन्त्योऽत्र जेमिताः ॥३७॥
शीलमत्यपि दध्यौ किं, [3]ममागौरवभोजनम्? ।
दीयतेऽद्य किमु मया, मन्दिरेऽत्र विनाशितम्? ॥३८॥
भुक्त्वा स्नुषाश्चतस्रोऽपि, ताः क्षेत्रे चलिताः पुनः ।
पुनरेव वदन्ति स्म, शेषाः शीलमतीमिति ॥३९॥
हलाः! [4]ह्यश्चिन्तितः सोऽद्य, सम्पन्नो नो मनोरथः ।
त्वयाऽपि चिन्तितं यादृक्, तादृग् लब्धं हि भोजनम् ॥४०॥
फलं चिन्ताऽनुरूपं स्यात्, प्रायः पुण्यवतामपि ।
मनोरथोऽपि नो तुच्छस्ततः कार्यो मनीषिणा ॥४१॥
साऽप्यवोचत् किमनया, भोजनस्येच्छया यतः ।
भुक्तं सारमसारं वा, तुल्यं स्यादुदरे गतम् ॥४२॥
मनोऽभिरुचितं कार्यं, यदा सम्पत्स्यते मम ।
तदा कृतार्थमात्मानं, गणयिष्यामि निश्चितम् ॥४३॥
अभीष्टभोजनप्राप्त्या, नित्यं साऽऽशङ्कमानसाः ।
तिस्रो वधूटिकाः श्वश्रूं, पृच्छन्ति स्मैवमन्यदा ॥४४॥
किमम्ब! भोजनं [5]फल्गु, शीलमत्याः प्रदीयते? ।

1. रसवती रसोई इति भाषायाम् । 2. एकान्ते यादृग् मन्त्रितं तादृग् इष्टभोजनम् । 3. तुच्छभोजनमवज्ञया वा भोजनम् । 4. गतवति दिने । 5. निस्सारम् ।

किं वाऽस्माकं प्रतिदिनं, [1]तद्धि प्राघूर्णकोचितम्? ॥४५॥
ततस्तया समाख्यातं, तासां तन्मन्त्रणादिकम् ।
ताभिश्च शीलमत्यास्तत्[2], साऽभून्म्लानमुखी क्षणात् ॥४६॥
पृष्टा सा [3]शूरपालेन, रात्रावेकान्तगाऽन्यदा ।
प्रिये! प्रसन्नवक्त्राऽपि, किमुद्विग्नेव दृश्यसे? ॥४७॥
किं वा तेऽवज्ञया माता, भोजनं सम्प्रयच्छति? ।
अकार्यविनयः कश्चित्, त्वया किं वा विनाशितम्? ॥४८॥
न गोप्यमस्ति ते किञ्चिदित्युक्ताऽथ तयाऽखिला ।
स्ववार्ता कथिता तस्याभिप्रेतकथनादिका ॥४९॥
सोऽथ दध्यावहो! ताताम्बयोः पश्यत मूर्खताम् ।
परिभूतं कुबुद्धिभ्यां, याभ्यां स्त्रीरत्नमीदृशम् ॥५०॥
अहो! अस्याः प्रियाया मे, सुप्रशस्यो मनोरथः ।
मध्ये नारीजनस्यैषा, भविष्यत्युत्तमा खलु ॥५१॥
ततो देशान्तरे क्वापि, गत्वा कर्म करोमि तत् ।
येनास्याः पूर्यते सर्वं, सुगेहिन्याः स्ववाञ्छितम् ॥५२॥
विचिन्त्यैवमथो पृष्टा, गत्यर्थं तेन तत्र सा ।
मोद्विग्नचित्ता *भावीस्त्वमाश्वेष्यामीति जल्पिता* ॥५३॥
वेणीबन्धं तथैतस्याः, परिधानं नियम्य च ।
विधाय स स्वपाणिभ्यां, पुनरेवमभाषत ॥५४॥
वेणीदण्डस्य मोक्षोऽस्य, कार्यो मय्यागते प्रिये! ।
मद्वदुत्तारणीयोऽयं, कञ्चुकोऽपि न वक्षसः ॥५५॥
एवमाभाष्य पत्नीं स्वां, शूरपालः स्वमन्दिरात् ।
खड्गसहायो निःसृत्य, चचालैकदिशं ☆श्रितः ॥५६॥

1. भोजनम् । 2. तत् समाख्यातम् । 3. शीलवत्याः पत्या । * 'भूयास्त्वमिति पाठः साधुः' ।
* 'जल्पता' इति 'क-ख' पाठः । ☆ 'प्रति' इति 'ख' पाठः ।

तत्प्रियाऽपि क्षणं हर्षविषादाभ्यां समाकुला ।
स्थित्वा पुनर्लगति स्म, स्वोचिते गृहकर्मणि ॥५७॥
शूरपालमपश्यन्तो, महीपालादयोऽथ ते ।
पप्रच्छुस्तत्प्रियां शुद्धिं, न जानामीति साऽवदत् ॥५८॥
तत्प्रवृत्तिमजानाना, मन्त्रयन्ति स्म ते मिथः ।
पराभूतः स केनापि, ययौ निःसृत्य मन्दिरात् ॥५९॥
जगदुस्तनयास्तातं, नास्मन्मध्यात् स केनचित् ।
विरूपमूचेऽनिष्टः स्यात्, प्रायेण न कनिष्ठकः ॥६०॥
पुनः पृष्टा वधूटी तैः, किं भद्रे! त्वयका सह ।
रोषस्य कारणं किञ्चिन्न जातं [1]दयितस्य ते ॥६१॥
सोचे सार्धं न मे भर्त्रा, रोषस्थानं किमप्यभूत् ।
किन्त्वयं वेणिदण्डो मे, कृतस्तेन स्वयं निशि ॥६२॥
इदं चाभाणि मोच्योऽयं[2], स्वहस्तेन मया प्रिये! ।
एतदेव हि जानामि, तत्स्वरूपं हि नापरम् ॥६३॥
त्रयोऽपि चिन्तयामासुर्भ्रातरस्ते यदम्बया[3] ।
वधूटी परिभूतेयं, स गतस्तेन हेतुना ॥६४॥

यतः–

जननीं जनकं बन्धुं, धनं धान्यं गृहं गृहाम्[4] ।
अपमानकराद् दूरात्, त्यजन्त्येतानि मानिनः ॥६५॥
अपि मातृपितृकृतादपमानाद् विभोरपि ।
इह मानधनैर्जीवैर्देशत्यागो विधीयते ॥६६॥
अपमानं गुरोरेव, शिष्यस्यैव हितावहम् ।
यतस्ते तर्जयन्त्येनं, [5]वारणस्मारणादिभिः ॥६७॥

1. पत्युः । 2. वेणिबन्धः । 3. मात्रा । 4. पत्नीम्, आकारान्तो गृहाशब्दः । 'गृहिणीगृहा' इति हैमः । 5. अकरणीयस्य करणं करणीयस्य च स्मारणम् ।

पराभवः स तस्यैव, तत्प्रियायाः कृतो हि यः ।
पीडितायां [1]तनौ नाम, [2]शरीरी दूयते न किम् ॥६८॥
सर्वत्रान्वेषयित्वा तमथ ते जनकादयः ।
चक्रिरे स्वानि कर्माणि, नित्यं तद्विरहार्दिताः ॥६९॥
प्रययौ शूरपालोऽपि, महाशालाभिधं पुरम् ।
जम्बूवृक्षस्य छायायां, सुष्वापोपवने च सः ॥७०॥
परिश्रमवशात् तस्य, तत्र निद्रा समाययौ ।
तत्प्रभावेण नो तस्य, तरोश्च्छाया न्यवर्तत ॥७१॥
अत्रान्तरे पुरे तत्रापुत्रो राजा व्यपद्यत ।
चक्रे च पञ्चदिव्याधिवासना सचिवादिभिः ॥७२॥
परिभ्रम्य पुरे तानि, दिनस्य प्रहरद्वयम् ।
प्राप्तानि तत्र यत्राभूच्छूरपालः स पुण्यवान् ॥७३॥
तं निरीक्ष्य करीन्द्रेण, चक्रे गुलगुलायितम् ।
हेषितं च तुरङ्गेण, छत्रं तस्योपरि स्थितम् ॥७४॥
भृङ्गारेण प्रदत्तोऽर्घश्चामराभ्यां स वीजितः ।
उत्थितश्च जयजयाऽऽरवो मङ्गलगीतिमान् ॥७५॥
ततोऽसौ मन्त्रिसामन्तैः, सर्वाङ्गेषु विलोकितः ।
चक्रस्वस्तिकमत्स्याऽऽद्यैर्लक्षितः शुभलक्षणैः ॥७६॥
दृष्ट्वाऽनिवर्तमानां च, छायां जम्बूतरोश्च ते ।
एवमूचुरयं स्वामी, जातः पुण्येन नः खलु ॥७७॥
विनिद्रः शूरपालोऽथ, किमेतदिति चिन्तयन् ।
अभ्यर्थ्य सचिवाऽऽद्यैस्तैरुपावेश्यत विष्टरे[3] ॥७८॥
ततः स्नानविलिप्ताङ्गं, वस्त्राऽऽभरणभूषितम् ।
एनमारोहयामासुः, सचिवाऽऽद्याः सुहस्तिनम् ॥७९॥

1. देहे । 2. आत्मा । 3. आसने ।

ततो [1]धृताऽऽतपत्रोऽसौ, चामराभ्यां च वीजितः ।
महाविभूत्या नगरे, पार्थिवस्तैः प्रवेशितः ॥८०॥
प्राथ्र्यमानः [2]पुरन्ध्रीभिश्चेतसा कृतमङ्गलः ।
प्रविश्य राजसदने, सभायां निषसाद सः ॥८१॥
कृताभिषेकः प्रत्येकं, सामन्तैः प्रतिवासरम् ।
पुरे तत्र महाराजः, शूरपालो बभूव सः ॥८२॥
सोऽन्येद्युश्चिन्तयामास, राजलक्ष्म्या किमेतया ।
यदसौ मम भार्या नो, पूरयत्यात्मवाञ्छितम्? ॥८३॥
स्वहस्तलिखितं लेखमर्पयित्वाऽन्यदाऽमुना ।
[3]स्वानानेतुमथो राज्ञा, प्रेषिता निजपूरुषाः ॥८४॥
ते काञ्चनपुरे प्राप्तास्तत्र तं सकुटुम्बकम् ।
ददृशुर्न महीपालमन्वेषणपरा अपि ॥८५॥
केनापि कथितं तेषां, जज्ञे दुर्भिक्षमत्र यत् ।
जातं [4]किमपि नो तस्य, महीपालस्य कर्षणे ॥८६॥
ततः सोऽन्यव्यवसायानभिज्ञः सकुटुम्बकः ।
अन्यत्र प्रययौ क्वापि, शुद्धिर्न ज्ञायते परम् ॥८७॥
इत्याकर्ण्य पुमांसस्ते, वलित्वाऽऽगत्य भूपतेः ।
तद्वार्तां कथयामासुस्तच्छ्रुत्वा विषसाद सः ॥८८॥
स्वमानुषाणां वैधुर्यश्रवणात्[5] स महीपतिः ।
सम्प्राप्तराज्यलाभोऽपि, सुखं लेभे कदाऽपि न ॥८९॥
इतश्च वर्षे यत्रासौ, निर्गतः पितृमन्दिरात् ।
ततो द्वितीयवर्षे नो, मेघवृष्टिरजायत ॥९०॥
ततो बभूव दुर्भिक्षं, भूरिलोकक्षयङ्करम् ।

1. धृतच्छत्रः । 2. राज्ञीभिः । 3. स्वजनान् । 4. कमपिधान्यादिसाधनं नावशिष्टम् । 5. दुःखश्रवणात् ।

यत्राऽऽढ्या अपि सीदन्ति, [1]दुर्गताश्च विशेषतः ॥९१॥
मार्गा दुःसञ्चरा यत्र, जायन्ते तस्करव्रजैः ।
मानुषो मानुषेणैव, क्षुधितेन च भक्ष्यते ॥९२॥
त्यज्यन्ते यत्र लोकेन, स्वापत्यानि रुदन्त्यपि ।
विक्रीयन्तेऽथवा तानि, निन्द्यनीचकुलेष्वपि ॥९३॥
लभन्ते यत्र कष्टेन, भिक्षामपि तपोधनाः[2] ।
आच्छिद्य [3]रङ्कनिवहैस्तेभ्यो भिक्षाऽपि भुज्यते ॥९४॥
मुच्यते यत्र भार्याऽपि, यस्यां स्नेहो महत्तरः ।
तस्य दुर्भिक्षकालस्य, वार्ताऽपि भयकारिणी ॥९५॥
पञ्चभिः कुलकम्

सकुटुम्बो महीपालः, स निर्गत्य पुरात् तदा ।
कुर्वाणोऽनेककर्माणि, स्थाने स्थाने परिभ्रमन् ॥९६॥
निवसन् शून्यशालासु, प्राप्तनिःस्नेहभोजनः ।
बुभुक्षितकुटुम्बेन, दूयमानो दुरुक्तिभिः ॥९७॥
लङ्घयन् नगरग्रामपर्वतारण्यनिम्नगाः[4] ।
आगान्महाशालपुरे, प्राप्तः कष्टदशामिमाम् ॥९८॥ त्रिभिर्विशेषकम्
शीलमत्यपि वेणीं तां, कञ्चुकं च पटच्चरम् ।
अमुं मुञ्चेति श्वशुरेणोच्यमानाऽपि नामुचत् ॥९९॥
तद्वाक्याकरणात् सर्वकुटुम्बोद्वेगकारिणी ।
भर्त्सिताऽपि ततस्तेन[5], सहमाना पराभवम् ॥१००॥
पत्यादेशं प्रकुर्वन्ती, रक्षन्ती दूषणं कुले ।
साऽपि तस्मिन् पुरे तेन, श्वशुरेण सहाऽऽगता ॥१०१॥ युग्मम्
इतस्तेन नरेन्द्रेण, सर्वलोकहितैषिणा ।
पुरे खानयितुं तत्राऽऽरब्धमेकमभूत् सरः ॥१०२॥

1. दरिद्राः । 2. मुनयः । 3. भिक्षुकगणैः । 4. निम्नगा नदी । 5. श्वशुरेण कुटुम्बेन वा ।

तत्र कर्म करोति स्म, निर्धनः प्रचुरो जनः ।
कुटुम्बसहितः सोऽथ, महीपालोऽपि [1]तद् व्यधात् ॥१०३॥
अन्यदा सर्वलोकेन, विज्ञप्तो जगतीपतिः ।
तडागेऽत्र प्रभो दृष्ट्या, प्रसादः क्रियतामिति ॥१०४॥
ततो हस्तिसमारूढः, सर्वसेनासमन्वितः ।
शूरपालनृपस्तत्राऽऽययौ लोकोपरोधतः ॥१०५॥
अथ कर्मकरान् सर्वान्, वीक्षमाणेन भूभुजा ।
सकुटुम्बो महीपालो, दृष्टोऽसौ जनको निजः ॥१०६॥
सा च शीलमती दृष्टा, विरहावस्थया तया ।
दुर्बलाङ्गी परनराऽऽलोककर्मपराङ्मुखी ॥१०७॥
दध्यौ च मे कुटुम्बस्य, दैवयोगेन कीदृशी ।
जाता कर्मकरावस्था?, ही! विपाकः कुकर्मणाम् ॥१०८॥
ततः कर्मकरान् सर्वान्, प्रत्येकं वीक्ष्य भूपतिः ।
उद्दिश्य स कुटुम्बं तत्, प्रोचे पञ्चकुलं प्रति ॥१०९॥
नव मानुषरूपाणि, कुर्वन्त्येतानि कर्म सत् ।
दीयतेऽत्र किमेतेषामित्युक्तेऽथ तदाऽब्रवीत् ॥११०॥
भृतकानां हि सर्वेषामेकैको रूपकः प्रभो! ।
दीयते कणभक्तं च, मध्यमं युष्मदाज्ञया ॥१११॥
पुनर्भूपोऽब्रवीदेषां, साधुकर्मविधायिनाम् ।
विशेषः क्रियतां कश्चिद्, येनेदं पठ्यते जने ॥११२॥
साध्वसाधुजने स्वामी, निर्विशेषो यदा भवेत् ।
तदा साधुगुणोत्साहः, साधोरपि न वर्धते ॥११३॥
अमीषां द्विगुणा वृत्तिः, कणभक्तमथोत्तमम् ।
देयमित्युदिते राज्ञा, तान्या (ना?) हूय जगाद तत् ॥११४॥
हंहो! युष्माकमार्येण[2], प्रसादोऽयं विनिर्मितः ।

1. कर्मकार्यम् । 2. स्वामिना राज्ञेत्यर्थः ।

महाप्रसाद इत्युच्चैर्महीपालादयोऽवदन्[1] ॥११५॥
राज्ञोचे द्विकलत्रोऽस्ति, किमेकस्तनयस्तव ।
निरीक्ष्यन्ते त्रयोऽमी, यच्चतस्रश्च तथाऽपराः ॥११६॥
पुत्रप्रवासवार्ताऽस्य, ततस्तेन निवेदिता ।
कुतस्त्वमागतोऽसीति पुनः पप्रच्छ तं नृपः ॥११७॥
तेनापि काञ्चनपुरादिति प्रोक्ते नृपेण सा ।
शीलमत्यात्मनो गेहमाहूता तक्रहेतवे ॥११८॥
ततश्चाऽऽगान्नृपो गेहं, जनः सर्वो विसिष्मिये ।
केनापि सह नः स्वामी, नैतावज्जल्पतीत्यहो! ॥११८॥
साऽथ शीलमती प्राप्ता, गोरसार्थं नृपौकसि ।
तदादिष्टप्रतीहार्या, कथिता सा महीभुजः ॥१२०॥
तेन सा भणिता भद्रे!, कञ्चुकः किं तवेदृशः? ।
लज्जाऽवनम्रया किञ्चित्, तया च न हि जल्पितम् ॥१२१॥
राज्ञाऽथ दापितं तस्याः, प्रचुरं गोरसादिकम् ।
सा सम्प्राप्ता निजे गेहे, भणिता श्वशुरादिभिः ॥१२२॥
[2]कूर्पासं त्वं नवं वत्से!, परिधेहि यतो गता ।
विगुप्यसि नृपाऽऽवासे, सा तच्चक्रे न तद्वचः ॥१२३॥
द्वितीयदिवसे प्रोक्ता, सा राज्ञा सदने गता ।
गृहाण [3]वारबाणं त्वममुं भद्रे! मयार्पितम् ॥१२४॥
ततः सा तमगृह्णन्ती, क्रुद्धेनेव महीभुजा ।

1. एतच्छ्लोकानन्तरम् -
पृष्टश्च भूभुजा वृद्धः किमेतैः सह तात ते । कोऽपि स्वजन संबन्धो न वेति धृतस्मृतः ॥१॥
अङ्गुल्या दर्शनात् सोऽथ देवेयं मम गेहिनी । एतेऽथ तनया एता जनन्या वध्वश्च यत् ॥२॥
इति प्रक्षिप्तश्लोकद्वयमशुद्धप्रायं क्वचित्पुस्तके टिप्पनिका रूपेण दृष्टं प्रकृत संबन्धोपयोगित्वादिहापि टिप्पनिका रूपेणैव यथावस्थ न्यस्तमस्माभिः प्रसिद्धिकर्तृभिः ॥
2. कूर्पासवारबाणौ कञ्चुकपर्यायौ । 3. कञ्चुकम् ।

अभाणीदमकुर्वत्या, भविता सुन्दरं न ते ॥१२५॥
साऽवोचत् सुन्दरं देव!, भवताद्वा अ (ह्य?)सुन्दरम् ।
अहं हि न करिष्यामि, निजनिश्चयखण्डनम् ॥१२६॥

यतः –

"आयातु यातु वा लक्ष्मीर्यत् तद् वा वदताज्जनः ।
जीवितं मरणं वाऽस्तु, सतां न्याय्यक्रियावताम् ॥१२७॥
इयं रे! क्षिप्यतां गुप्तौ, ममाऽऽज्ञाभङ्गकारिणी ।
इत्यादिष्टैर्नरै राज्ञा, चालिता साऽथ [1]तां प्रति ॥१२८॥
एवं कृतेऽपि सा यावन्न मुमोच स्वनिश्चयम् ।
ततस्तुष्टेन भूपेनाऽऽनायिता स्वान्तिकं पुनः ॥१२९॥
ऊचे च कारणेन त्वं, केन भद्रे! न मुञ्चसि ।
जीर्णमेतं वारबाणमङ्गवैरूप्यकारकम्? ॥१३०॥
साऽप्यवादीदियं वेणी, मम भर्त्रा विनिर्मिता ।
तेनैवाहं स्वहस्तेन, कञ्चुकं परिधापिता ॥१३१॥
ततोऽयं मुच्यते देव!, भर्तुरेव करेण मे ।
सोऽब्रवीत् तव भर्ताऽहं, भवामि त्यज कञ्चुकम् ॥१३२॥
भणितं च तया नेदं, वक्तुमप्युचितं तव ।
यतस्त्वं मेदिनीपालो, दुर्नीतिपरिरक्षकः ॥१३३॥
दुःशीलैः परिभूतानां, सतीनां शीलखण्डनम् ।
ततः सत्यमिदं जातं, यतो रक्षा ततो भयम् ॥१३४॥

अन्यच्च –

गोत्रं विगोपितं तेन, पौरुषं चरितं तथा ।
भ्रामितो मेदिनीपीठेऽयशःपटहकोऽखिले ॥१३५॥
महाऽर्घ्यमपि तेन स्वं, विहितं रजसा समम् ।

1. गुप्तिं कारावासम् ।

परस्त्रीसेवनं येन, निर्लज्जेन कृतं खलु ॥१३६॥ युग्मम्
प्रोक्तं पार्श्वस्थितैर्भद्रे!, प्रार्थ्यते योऽबलाजनैः[1] ।
कथं तमवजानासि, प्रार्थनातत्परं नृपम्? ॥१३७॥
साऽपि स्माऽऽह [2]लगत्यङ्गे परिणीतः पतिर्मम ।
ज्वालाकरालो वह्निर्वा, जीवन्त्या नापरो नरः ॥१३८॥
ततः संकेतवाक्यानि, तत्प्रतीतानि भूपतिः ।
आख्यायोवाच संवीक्ष्य, मुग्धे! मामुपलक्षय ॥१३९॥
यतोऽहं नगरेऽमुष्मिन्नपुत्रनृपतेर्मृतौ ।
पञ्चदिव्यैः कृतो राजा, शूरपालः स ते पतिः ॥१४०॥
सर्वं सप्रत्ययं राजवाक्यमाकर्ण्य विस्मिता ।
निरीक्ष्य सम्मुखं सम्यक्, सा स्वकान्तं विवेद तम्॥१४१॥
हृष्टा सजलपाथोददर्शनात् केकिनीव सा ।
जाता रोमाञ्चिताङ्गी च, धाराऽऽहतकदम्बवत् ॥१४२॥
ततो राजसमादिष्टचेटिभिः स्नपिता सका ।
सर्वाङ्गेषु च तन्वङ्गी, कुङ्कुमेन विलिप्य च ॥१४३॥
ततः पट्टांशुकादीनि, वस्त्राणि परिधापिता ।
भूषिता तिलकचतुर्दशेनाऽऽभरणेन च ॥१४४॥
सा ययौ भूपतेः पार्श्वे, तेनाप्यर्धाऽऽसने निजे ।
उपावेशि ततो मन्त्रिसामन्ताऽऽद्यैर्नमस्कृता ॥१४५॥
इतस्तस्मिन् दिने शान्तिम[3]त्येताऽभूत् तया सह ।
गुप्तिप्रक्षेपकालेऽस्या, वलित्वा सा गृहं गता ॥१४६॥
शशंसैवं कुटुम्बस्य, यथाऽसौ राजढौकितम् ।
सुकञ्चुकमगृह्णन्ती, कारावासिन्यजायत ॥१४७॥
सर्वैरपि ततोऽभाणि, युक्तमस्या इदं स्फुटम् ।

1. स्त्रीजनैः । 2. स्पृशति । 'व्यलिप्यत' इति 'क' पाठः । 3. आगता ।

बहुधा भण्यमानाऽपि, या नो वाक्यममन्यत ॥१४८॥
भोक्तुं निमन्त्रितोऽन्येद्युर्महीपालो महीभुजा ।
आययौ सकुटुम्बोऽपि, स काले राजमन्दिरे ॥१४९॥
कारयित्वा ततः स्नानं, वस्त्राणि परिधाप्य च ।
यथायोग्यमलङ्कारैः, सकुटुम्बोऽपि मण्डितः ॥१५०॥
महीपालस्ततो दध्यौ, किमेष जगतीपतिः ।
करोत्यस्माकमतुलं, बन्धूनामिव गौरवम्? ॥१५१॥
यस्य पार्श्वाद्यदा येन, लभ्यं स्याद्यदिलातले[1] ।
लभते निर्गुणोऽप्येष, तस्य पार्श्वात् तदैव तत् ॥१५२॥
एवं विचिन्तयच्चित्ते, तत्कुटुम्बमथाखिलम् ।
रम्याऽऽसनेषु राज्ञा, भोजनार्थमुपवेशितम् ॥१५३॥
न्यवेश्यन्त विचित्राणि, स्थालान्यस्य पुरस्तथा ।
निषसाद च भूपोऽपि, भोक्तुं तत्रोचिताऽऽसने ॥१५४॥
अत्रान्तरे नृपाऽऽदिष्टा, देवी शीलमती स्वयम् ।
विदधे शालिशूपाद्याहारस्य परिवेषणम् ॥१५५॥
भणिता सा पुना राज्ञा, चिरकालविचिन्तितान् ।
सफलीकुरुष्व सर्वान्, प्रियेऽद्य [2]स्वमनोरथान् ॥१५६॥
भोजने च कृते राज्ञा, महीपालो निवेशितः ।
सिंहासने वरेऽन्येषु[3], भ्रातरश्च यथाक्रमम् ॥१५७॥
जननी भ्रातृजायाश्च, यथायोग्याऽऽसनेषु[4] च ।
ततो नत्वा महीपालं, शूरपालनृपोऽवदत् ॥१५८॥
तात! सोऽहं तव सुतो, निर्गतो यस्तदा गृहात् ।
तावकीनमिदं राज्यं, ततस्ते सेवकोऽस्म्यहम् ॥१५९॥

1. भूमीतले । 2. वटवृक्षाधश्चिन्तितान् १८ पद्यादिषूक्तान् । 3. अन्येषु सिंहासनेषु ।
4. 'निवेशितः' इति भ्रात्रादिभिः समंयोजनीयम् ।

विज्ञायापि मया त्वं यत्, कारितः कर्म गर्हितम् ।
क्षन्तव्यः पूज्यपादैः स, सर्वोऽप्यविनयो मम ॥१६०॥
शीलमत्यपि सर्वेषां, नत्वा पादानदोऽवदत् ।
मया सन्तापिता यत्, तत् क्षमध्वं यूयमद्य मे ॥१६१॥
यद् युष्मद्वचनेनापि, न मुक्तः कञ्चुको मया ।
तदवश्यं स्वकान्तस्य, तात! वाक्यमनुष्ठितम् ॥१६२॥
महीपालोऽप्यभाषिष्ट, हृष्टः समुपलक्ष्य तम् ।
निजपुण्यार्जितां लक्ष्मीं, त्वं च भुङ्क्ष्व चिरं सुत! ॥१६३॥
जातस्त्वद्दर्शने वत्स!, हर्षकल्लोलवानहम् ।
[1]सरस्वानिव [2]शीतांशोरुदये हि विदूरगः ॥१६४॥
उत्थायाऽऽदाय बाहुभ्यां, शूरपालं ततः पिता ।
निवेशयामास सिंहासने नीतिविशारदः ॥१६५॥
राज्यप्रतिष्ठितः पुत्रो, वन्द्यः पित्राऽपि [3]साञ्जसम् ।
राजनीतिरियं येन, महीपालोऽपि तद् व्यधात् ॥१६६॥
भणितैवं प्रियैर्वाक्यैर्गुरुणा[4] शीलमत्यपि ।
जीवलोके त्वमेवैका, पुत्रि! धन्याऽसि सर्वथा ॥१६७॥
यस्या मनोरथानामसम्भाव्यानामपि स्फुटम् ।
जाता सिद्धिः समस्तानां, स्त्रीरत्नं तत् त्वमेव हि ॥१६८॥
रक्षितं यत् त्वयाऽनन्यसदृशं शीलमात्मनः ।
विहिता पत्युराज्ञा च, तत् ते तुल्याऽपराऽत्र का? ॥१६९॥
याऽभूत् पदे पदे पूर्वं, तस्य सन्तापकारिणी ।
साऽपि जाता स्तुतिपदं, प्रभावो भुव्यहो! श्रियः ॥१७०॥
सोचेऽपमानता तात!, सफला मे तवाभवत् ।

1. समुद्रवत् । 2. चन्द्रस्य । 3. शीघ्रम् । 4. श्वशुरेण ।

गुरूणामपमानोऽपि, यतः स्याद्वाञ्छितप्रदः ।।१७१।।
यदि त्वमपमानं मे, तदा नादर्शयिष्यथाः ।
आगमिष्यत् ततश्चात्र, कथं तात! तवाऽऽत्मजः? ।।१७२।।
अलप्स्यत कथं राज्यं, गौरवं भवतां कथम्? ।
अकरिष्यदसौ मे वाऽपूरयिष्यत् कथं प्रियम् ।।१७३।।
एवमुक्त्वा स्थिता साऽथ, शूरपालो नरेश्वरः ।
उद्दिश्य सर्वसामन्तानदोऽवादीत् प्रगल्भवाक् ।।१७४।।
भो! भो! मे जनकोऽयं, हि ममैते भ्रातरस्तथा ।
इयं माता [1]प्रजावत्यस्तिस्रश्चैता मम स्फुटम् ।।१७५।।
तदेतेषां गुरूणां मे, प्रणामं कुरुताऽऽदरात् ।
इत्युक्तास्ते तथा चक्रुर्दुर्लङ्घ्यं स्वामिशासनम् ।।१७६।।
राज्ञाऽथ शूरपालेन, सर्वे ते निजपूर्वजाः ।
भूरिदेशप्रदानेन, चक्रिरे मण्डलेश्वराः ।।१७७।।
पितरावात्मनः पार्श्वे, स्थापितौ तौ सगौरवम् ।
स एवं कृतकृत्यः सन्, निजं राज्यमपालयत् ।।१७८।।
अथान्येद्युः पुरे तत्र, श्रुतसागरसञ्ज्ञकः ।
समाययौ सूरिवरस्तस्थौ च नगराद् बहिः ।।१७९।।
तं नन्तुं धार्मिकं लोकं, निर्यान्तं वीक्ष्य पत्तनात् ।
तत्कारणमसौ राजा, पप्रच्छ सचिवं वरम् ।।१८०।।
विज्ञातपरमार्थोऽसौ, जजल्पैवं महीपतिम् ।
ज्ञानवानागतोऽस्त्यद्य, कोऽपि सूरिवरः पुरे ।।१८१।।
राजा प्रोवाच हे मन्त्रिन्!, यथैते यान्ति नागराः ।
तथाऽऽचार्यं नमस्कर्तुं, यामो वयमपि स्फुटम् ।।१८२।।
युक्तमित्युदिते तेन, सोऽथ तातप्रियाऽन्वितः ।

1. भ्रातृभार्याः ।

गत्वा नत्वा च तं सूरिं, निषसादास्य सन्निधौ ॥१८३॥
आचख्यौ सूरिरप्यस्य, धर्मं सर्वज्ञभाषितम् ।
संसारसागरोत्तारगुरुपोतसमप्रभम् ॥१८४॥
ततः श्रावकधर्मं स, गृहीत्वा गुरुसन्निधौ ।
भूयोऽपि तं नमस्कृत्याऽऽययौ च निजमन्दिरम् ॥१८५॥
एवं प्रतिदिनं सूरिवन्दनार्थं ययावसौ ।
अन्यस्मिँश्च दिने तेन, पृष्टः स भगवानिति ॥१८६॥
प्रभो! पूर्वभवेऽकारि, किं मया सुकृतं? यतः ।
कष्टं विनाऽपि येनेयं, लब्धा [1]राज्येन्दिरा वरा ॥१८७॥
सोऽथाभाषिष्ट हृष्टाऽऽस्यः सुगुरुः श्रुतसागरः ।
राजन्! त्वयाऽतिथिसंविभागश्चक्रे पुरा भवे ॥१८८॥
इहैव भरते भूमिप्रतिष्ठे नगरे वरे ।
वीरदेवोऽभिधानेन, श्रावकः प्रवरोऽभवत् ॥१८९॥
तस्याऽऽसीत् सुव्रतानाम्नी श्राविका वरगेहिनी ।
तावपालयतां गेहवासं धर्मपरायणौ ॥१९०॥
अन्येद्युरष्टमीघस्रे[2], वीरदेवः स पौषधम् ।
जग्राह पारणे चैवं, चिन्तयामास चेतसि ॥१९१॥
धन्यास्ते पर्वदिवसे, ये कृत्वा वरपौषधम् ।
तत्पारणे सुसाधुभ्यो, दानं ददाति भाविनः ॥१९२॥
द्वारावलोकनं सोऽथ, कुर्वन्नवमवर्जितिं ।
ददर्शाऽऽगच्छदावासे, साधुयुग्मं तपःकृशम् ॥१९३॥
कृत्वाऽभिगमनं तस्य, नत्वा च चरणद्वयम् ।
सद्भक्त्या भक्तपानेन, वीरस्तत्[3] प्रत्यलाभयत् ॥१९४॥
स्तोकभूमिमनुव्रज्य, तौ नत्वा च मुनी पुनः ।

1. राजयलक्ष्मीः । 2. घस्रो दिनम् । 3. साधुद्वया[illegible]य भोजनपानादि दत्तवानित्यर्थः ।

स्ववेश्मन्यायायौ वीरो, धन्योऽहमिति चिन्तयन् ॥१६५॥
दध्यौ सा सुव्रताऽप्येवं, कृतार्थोऽयं पतिर्मम ।
दत्तं येन सुसाधुभ्यां, दानं श्रद्धाऽतिरेकिणा ॥१६६॥
एवं विशुद्धभावेन, प्रकुर्वत्याऽनुमोदनाम् ।
सुपात्रदानपुण्यस्य, तयाऽप्यंश उपार्जितः ॥१६७॥
एवं तौ दम्पती धन्यौ, दत्त्वा दानमनेकधा ।
पालयित्वा सुसम्यक्त्वौ, चिरं च श्रावकव्रतम् ॥१६८॥
कृत्वाऽन्ते [1]चाशनत्यागं, विपद्य च समाधिना ।
ईशानकल्पे संजातावमरौ सुखशालिनौ ॥१६९॥ युग्मम्
वीरदेवस्य जीवोऽथ, देवलोकात् परिच्युतः ।
प्रचण्डो मेदिनीपालः, शूरपालो भवानभूत् ॥२००॥
बभूव सुव्रताजीवो, दिवश्च्युत्वा तव प्रिया ।
एषा शीलमतीनाम्नी, सुमनोरथशालिनी ॥२०१॥
हंहो! पूर्वभवे दत्तं, यद् युवाभ्यां विहायतम्[2] ।
तेन राज्यमिदं लब्धं, विना क्लेशेन भूतले ॥२०२॥
ततश्च जातिस्मरणं, नृपोऽवाऽऽप स सप्रियः ।
प्रत्यक्षमिव तत्पूर्वभववृत्तं ददर्श च ॥२०३॥
*चन्द्रपालं निजसुतं, राज्ये च विनिवेश्य सः ।
सतातः सप्रियो दीक्षां, गुरोस्तस्यान्तिकेऽग्रहीत् ॥२०४॥
विशुद्धां पालयित्वा तां, कृत्वा च विविधं तपः ।
ययावात्म[3]तृतीयोऽपि, स मोक्षं प्राप्तकेवलः ॥२०५॥

इति श्रीद्वादशव्रतकथासङ्ग्रहः समाप्तः

1. अशनं भोजनम् । 2. दानम् । 'भावतः' इति 'ख' पाठः । * 'चन्द्रपालं सुतं राज्ये विनिवेश्य ततश्च सः' इति 'ख' पाठः । 3. आत्मना स्वेन तृतीयाः-पिता स्त्री स्वयं चेत्यर्थः ।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222